दो पल की छांह

दो पल की छाँह

दीप्ति खण्डेलवाल

समर्पण—
अपने ही मन को !

रवि ठाकुर ने कहा था—
रक्त दिए का लिखिबो
प्राण दिए का लिखिबो
की करिबो काज…?
मेरी भी संघर्षरत चेतना कह रही है—
तुम्हारा नाम ओठों पर
तुम्हारा रूप आंखों में
मुझे दो शक्ति 'मेरे मन' !—
कि मैं अंगार से खेलूं—
कि मैं रोकूं प्रभंजन को
दिशाओं को दिशाएं दूं
बहाऊं रक्त फिर इतना
नया इतिहास ही लिख दूं !…

—दीप्ति खण्डेलवाल
न्यू रीसर्च क्वार्टर नं० १९
उस्मानिया यूनिवर्सिटी,
हैदराबाद-७

दो पल की छांह

सागर का रेतीला तट दूर-दूर तक फैला है। भीड़ से दूर असीम सागर को निहारती वह बैठी है। पहले उसे भीड़-भाड़ अच्छी लगती थी, शोर-गुल धूम-धाम स्थूल स्तर पर कुछ होता रहना···कालेज में वह 'द गडबड गर्ल' के नाम से जानी जाती थी, घर में 'मुसीबत' के नाम से। 'मजाल है कि कम्बख्त दो मिनट शान्त रहे।'··· मां कहती, तो वह मां के गले से झूल जाती—'ओ ममी डियर! जिन्दगी नाम ही 'एक्शन' का है, शान्त तो मुर्दा ही रह सकता है···।' धीरे-धीरे, कब, कैसे जिन्दगी की, उसकी अपनी मां से बार-बार कही गई वह परिभाषा, बदलती गई···धीरे-धीरे कब, कैसे वह मुर्दा होती गई···उसे स्वयं भी समझ में तब आया, जब वह भीड़ से डरने लगी, बहुत अपने लगते चेहरे बहुत पराए लगने लगे···शोर-गुल उसे 'बहरा' बनाने लगा, आवाजों के बीच वह 'गूंगी' होने लगी···अब वह जानबूझ कर एकान्त तलाशती है—निर्जन, नीरव, एकान्त, जहां स्वयं के निकट केवल वह स्वयं ही हो···जहां वह अपनी चलती सांसों को महसूस कर सके···जहां जिन्दगी के खो चुके अहसास कुछ पल के लिए उसे वापस मिल जाएं···कि वह फिर मरते रहने के लिए तैयार हो जाए···।

क्षितिज की सीमा पर सांझ डूब रही है। सांझ के सुनहले रंग धीरे-धीरे सागर में डूब रहे हैं। उसकी आंखों में असीम सागर, क्षितिज और सांझ के डूबते रंग हैं। उसकी आंखों में सांझ के सुनहले रंगों के साथ, स्याह अंधेरों की परछाइयां भी उभरती है···ठीक जैसे सांझ के सुनहले रंगों पर स्याह अंधेरे उतरने लगे हैं···। पास ही एक पांच-छः वर्ष का बच्चा अपने नन्हें हाथों में रेत भर-भर कर उछाल रहा है, इधर-उधर दौड़

रहा है। कभी दौड़कर उसके पास आता है, कभी दौड़ता दूर चला जाता है...सहसा बच्चा सागर की ओर दौड़ पड़ता है, जहां ऊंची लहरें किनारे पर टक्कर मार रही हैं...इसके पहले कि 'वह' बच्चे को रोक पाए...बच्चा लहरों में फिसल जाता है...वह चीखकर दौडती है, लहरों में कूद पड़ती है...तभी कोई (एक पुरुष) दौड़ता है...बच्चा अभी दूर वहा नहीं है...वह व्यक्ति अपने बलिष्ठ हाथों में बच्चे को उठा लेता है ...घुटनों तक लहरों में खड़ी वह दोनों हाथों से अपना चेहरा ढंक लेती है...वह थर-थर कांप रही है...केवल एक 'ओह !' उसके होठों पर आता है...यह 'ओह' एक आर्त्तनाद है, एक चीत्कार-सा...वह सिसकने लगी है...।

पुरुष हंसता है, फिर जैसे अदृश्य रूप से युवती के आंसू पोंछना चाह रहा हो, ऐसे स्वर में कहता है—"घबराइए नहीं, आपका बच्चा बिल्कुल ठीक है,...लहरों से निकल आया है...अब आप भी निकल आइए..." वह भीगे, घबरा गए बच्चे का चेहरा अपने रूमाल से पोंछता है...उसके गाल थपथपाता है...बच्चा उसके गले में हाथ डाल देता है, धीरे से कहता है—"अंकल थैंक्यू !..." वह हंसता है—"यस जूनियर। नो मेन्शन। लेकिन तुम उन लहरों से खेलने क्यों गए थे ? देखो बेटे। मिट्टी से खेला करो...देखो, यहां दौड़ने के लिए कितनी जगह...यहां हमारी तुम्हारी रेस होगी। लेकिन बेटे पानी पर नहीं,...ज़मीन पर ही दौड़ा जाता है, याद रखना, ओ० के०।"

बच्चा किलकता है—"ओ० के० अंकल ! फिर हमारी रेस कब होगी ?"

पुरुष गम्भीर हो उठता है, उस युवती की ओर इशारा करता है—"जब तुम्हारी ममी इजाज़त देगी।"

बच्चा किलकता है—"वो मेरी ममी नहीं, आंटी है।"

पुरुष और गंभीर हो उठता है—"आंटी सही...बात एक ही है।" युवती धीरे-धीरे लहरों से निकल कर पास आ बैठी है...घुटनों तक साड़ी भीग गई है, चेहरा आंसुओं से नहा गया है। वह एकदम चुप है, न आंसुओं को पोंछती है, न एक शब्द कहती है, हां, होठों को भींचकर

उनके कम्पन को रोकने का प्रयास कर रही है…।

पुरुष सहज होने का प्रयास करता है—"देखिए, आपका बच्चा एक-दम ठीक है, सिर्फ भीग गया है…अब जल्दी से घर ले जाकर इसके कपड़े बदलवा दीजिए, कहीं ठंड न लग जाए। थोड़ी-सी ब्रांडी दे सकता हूं इसे, आप इजाजत दें तो, फिर ठण्ड का असर नहीं होगा…।"

युवती पथराए स्वर में कहती है—"दे दीजिए।"

पुरुष बच्चे को गोद से रेत में बैठा देता है, जेब से ब्रांडी की बोतल निकलता है, बोतल की कैप में भरकर बच्चे से कहता है—"मुंह खोलो जूनियर जल्दी, ये पी लो।" बच्चा ब्रांडी पी लेता है, मुंह बनाता है—"गन्दी है, ये दवा बिल्कुल गन्दी है…अब चाकलेट दो अंकल…नहीं तो तुमसे कुट्टी कर दूगा।"

पुरुष उन्मुक्त-सा हंस पड़ता है—"चाकलेट तो तुम खुद हो यार! अच्छा चलो, हाथ मिलाओ, बोलो कुट्टी नहीं करोगे, दोस्ती करोगे, कम आन, शेक हैंड्स। चलो उधर चाकलेट खाएंगे, हम भी, तुम भी…" युवती से कहता है—"चलिए…टैक्सी से जाएंगी या बस से?"

युवती उसी पथराए स्वर में पूछती है—"आप हमेशा ब्रांडी साथ रखते हैं?"

पुरुष तिक्तता से उत्तर देता है—"रखता नहीं हूं…रखनी पड़ती है…जैसे…जैसे…शायद हमारे जैसे जाने कितने जीते नहीं…उन्हें जीना पड़ता है…।" एक दीर्घ नि:श्वास लेता है—'इजाजत हो तो थोड़ी-सी मैं भी ले लूं।" ब्रांडी के दो-तीन घूंट मुंह से उलट लेता है। बच्चे से कहता है—"अब चलो यार चाकलेट, चाकलेट खाएंगे, फिर तुम जल्दी से घर चले जाना।" युवती से कहता है—"चलिए, उठिए।" किन्तु युवती पथराई-सी बैठी रहती है—"ठीक कहा आपने। हम जीते नहीं …जीना पड़ता है…।" युवती की आंखों में आंसू नहीं हैं…एक पथराया-सा शून्य उभर आया है…वह जैसे कुछ भी नहीं देख रही…

पुरुष ध्यान से युवती को देखता है—"देखिए, मिस या मिसेज… आप जो भी हों, आपकी इन खाली नजरों से तो, इनमें भरे आंसू अच्छे थे…या तो इन आंखों में हंसी के फूल खिलाइए या इनमें आंसुओं के

मोती भर लीजिए···जो भी आप चाहें···लेकिन इनमें, आपकी इन खूबसूरत आंखों में कुछ भरा होना चाहिए···इनका खालीपन···देखना मुश्किल है।···" पुरुष के स्वर में एक कम्पन-सा है।

युवती जैसे होश में आ जाती है, "ओह ! आई एम सारी।··· आपने बच्चे की जान बचाई और मैंने आपका शुक्रिया भी अदा नहीं किया···आई एम वेरी सारी मि···?"

पुरुष विनम्रता से हंसता है। कहता है—"मिस्टर एन्थोनी। आप चाहें तो मुझे सिर्फ 'टोनी' कह सकती हैं, मेरी ममी मुझे यही कहती थीं···उनके जाने के बाद मैं 'टोनी' सुनने के लिए तरस गया···"। उसका खरखरा, कठोर स्वर, सहसा कोमल-करुण, आर्द्र हो उठता है···।

युवती एक विषाद-भरी मुस्कराहट से कहती है—"अच्छा तो थैंक्यू वेरी-वेरी मच मिस्टर एन्थोनी ···! नो, मिस्टर टोनी !"

पुरुष और भी आर्द्र हो उठी हंसी हंसता है—"नो मिस्टर आलसो, सिर्फ टोनी। आपने गोल्डस्मिथ को पढ़ा है ? टोनी लम्पकिन को याद कीजिए, मैं भी टोनी लम्पकिन से कम अक्लमन्द, बेवकूफ नहीं हूं।"

युवती इतनी देर बार मुक्त-सी हंस पड़ती है—"अक्लमन्द-बेव-[illegible] ! बातें आप बड़ी मज़ेदार करते हैं। ऐसी कि बादल हट जाएं··· धूप निकल आए···।" फिर धीरे स्वर में जैसे स्वयं से कहती है—"जाने कब से बादल-ही-बादल घिरे हैं···धूप का एक टुकड़ा भी तो कहीं नहीं···।"

एन्थोनी उसे एकटक देखता है—"आप रोती हैं तो मोती बरसते हैं, हंसती है तो फूल झरते हैं···मैं न शायर हूं···न मुझे बात करने का सलीका आता है···फिर भी, जाने क्यों आपको देखकर ऐसा ही लगा कि आपमें, आपके आंसुओं और हंसी, दोनों में एक अजीब कशिश है। और यह कोई शायराना बात नहीं है, एक सच्चाई है···।"

"आपने ऐसी 'सच्चाई' कितनों से कही है···?" युवती के स्वर में एक तीखा व्यंग्य है।

"आपका मतलब ?" एन्थोनी आहत-सा हो उठा है।

युवती और भी तीखे व्यंग्य के स्वर में कहती है—"मतलब···?

समझाती हूं···एक चुटकुला सुनिए···समझ मे आ जाएगा···एक पैदाइशी मजनूं था। जाने कितनी लैलाओं से प्यार की कसमें खाता रहा···और हर बार कहता रहा—यह एक सच्चाई है। लेकिन वह परवाना नहीं, सिर्फ भौरा था···पंख जलाने की बेवकूफी को बेवकूफी ही समझता था ···रस पीने—,उड़ जाने की अक्लमन्दी उसे आती थी। लेकिन एक लैला उसे सचमुच परवाना समझ बैठी, खुद को शमा···और खुद को शमा-सी जला डालने पर तुल भी गई···तब तक मियां भौरे कहीं दूर उड़नछू हो चुके थे। शमा ने उन्हें पाने के लिए प्यार की एक चाल चली, लिखा —'मेरी शादी होनेवाली है···तुम्हारे पास मेरे खत और फोटो हैं, वापस कर दो, मेरे प्यार की खातिर···। बात जरा भी खुली तो मेरी जिन्दगी बरबाद हो जाएगी···'

"शमा को भरोसा था कि उसका परवाना, जले पंख लिए उसके कदमों में आ गिरेगा···लेकिन···" युवती एक तीखी छुरे की धार-सी हंसी हंसती है, जो उसके ओठों से आंखों तक फैल गई है···"फिर जानते हैं क्या हुआ? परवाने ने शमा को खत के जवाब में एक भारी पैकेट भेज दिया। साथ में एक चिट पर लिखा था—'तुम अपना फोटो और खत इसमें तलाश कर लो···बाकी वापस कर देना···।' फिर मजनूं मियां आराम से अपनी 'सच्चाइयों' में जीते रहे···। बेवकूफ लैला ने अपनी 'सच्चाई' पर सिर पटककर जान दे दी···" वह उसी छुरे की धार-सी दृष्टि से एन्थोनी को देखती है।

मर्माहत-सा एन्थोनी सिर झुका लेता है, धीमे स्वर में कहता है—"शायद आपने झूठी सच्चाइयां ही देखी हैं···इतनी···कि आप सच्चाई की पहचान भूल चुकी हैं···खैर, जाने दीजिए···आपका, उसे क्या कहते हैं···" सिर खुजलाता है—"शुभनाम, हां, शुभनाम क्या है?"

"मेरा शुभनाम?" युवती कुछ क्षण रुककर कहती है—"मैं अनामा हूं···। यानी कि मेरा कोई नाम नहीं···वैसे, जो चाहे कह लीजिए, नाम का कोई अर्थ नहीं होता—नाम से कोई फर्क भी नहीं पड़ता···अच्छा अब चलिए···" वह उठ खड़ी होती है। भीली साड़ी की सलवटों को ठीक करती, सिर को एक झटका देकर, तनकर चलने लगती है।

एन्थोनी बच्चे की उंगली पकड़कर साथ चलते कहता है—"अगर आप इजाज़त दें, तो आपको 'मोना' कहना चाहूंगा···मोनालिसा। इस नाम का मतलब तो आप समझती होंगी या मैं अर्ज कर दूं। मोनालिसा का अर्थ है—अनछुए फूल जैसी खूबसूरत···बेदाग···औरत की एक 'इमेज'···। यानी कि नारी का एक मासूम प्यारा रूप।"···उसका स्वर भाव-विह्वल हो उठता है।

युवती तनकर चलती, पल भर के लिए रुकती है···एन्थोनी की भाव-विह्वल आंखों को जलती दृष्टि से देखती है—"तो फिर इतना और बता दीजिए, ऐसी मोनालिसाओं में मेरा रोल नं०···कौन-सा है ?"

"ओह !"···कहता एन्थोनी स्तब्ध रह जाता है। तनकर चलती युवती के साथ शिथिल कदमों से, हारा-सा चलने लगता है···सांझ के सारे सुनहरे रंग सागर में डूब चुके हैं···आकाश स्याह हो उठा है··· हां, दो-चार तारे झिलमिलाने लगे हैं···सागर का पानी भी स्याह हो उठा है···किनारे खड़े, ताड़ के वृक्षों की विशाल आकृतियां, घिरते अंधेरों में मौन, स्तब्ध-सी हैं···।

युवती तने तेज कदमों से चल रही है, एन्थोनी शिथिल कदमों को तेज करने का प्रयास करता-सा···और बच्चा दोनों के बीच छोटे-छोटे कदमों से दौड़ता-सा। बच्चा धीरे से एन्थोनी का हाथ खींचकर कहता है—"चाकलेट अंकल ! एक मिनट, मेरी नेकर खिसक रही है, मैं नंगा हो जाऊंगा, जरा रुकिए।"

एन्थोनी रुकता है, युवती से कहता है, "आप चलिए, हम आते हैं, जरा इस चाकलेट-हीरो की नेकर कस दूं।"

युवती बढ़ जाती है। बच्चा धीमे स्वर में फुसफुसाता है—"अंकल; वो मेरी नेकर ढीली थोड़ ही हुई थी···वो तो मैंने ममी को 'डाज' मारा है कि ममी न सुनें और मैं आपको एक बात बता दूं।"

एन्थोनी हंस पड़ता है—"वाह मेरे यार ! अभी दुनिया में आकर आपको इतने दिन भी नहीं हुए कि दूध के दांत तो टूटते और आप ममी को 'डाज' देने लगे। अच्छा कहिए, मेरे बाप, क्या कहना है आपको ?"

बच्चा रुआंसा हो जाता है—"न अंकल, मैंने 'हाथ' किसी बुरी बात के लिए थोड़े ही दिया, आज ममी हंसीं थीं न, तो मैं आपसे कहना चाहता था कि ममी को ऐसे ही हंसाते रहिए…आपको नहीं मालूम अंकल, ममी कभी नहीं हंसती…हां, रोती बहुत हैं, देर-देर तक रोती हैं …कभी-कभी जब मैं रात को सोता हूं तो देखता हूं कि ममी की आंखों में आंसू हैं, सवेरे सोकर उठता हूं तो भी देखता हूं कि ममी की आंखों में आंसू हैं…अंकल, मैं तो सो जाता हूं, क्या ममी रात भर सोती नहीं? एक बार मुझे पेट में दरद हुआ था तो मैं भी रात भर नहीं सोया था… सिर्फ एक रात! मुझे बड़ी तकलीफ हुई थी, अंकल। एक रात ही नींद नहीं आई तो दिन भर सिर दुखता रहा, इतना कि पेट का दरद तो ठीक हो गया था फिर भी मैं खेल नहीं सका। ममी कहती रहीं—'जा खेल आ थोड़ी देर।' लेकिन मैं खेल नहीं सका। लेकिन ममी तो अक्सर सारी रात नहीं सोती, पर पता नहीं, कहां दरद होता है, उनको? कोई दरद जरूर होता होगा, तभी न रोती हैं! लेकिन मैं पूछता हूं, तो 'तड़' से थप्पड़ जड़ देती हैं। कहती हैं—"तुझे क्या, मैं रोऊं या हंसूं? अंकल, ममी थप्पड़ इतने जोर का मारती हैं कि मेरी उनसे कुछ भी कहने की हिम्मत नहीं होती…वैसे, ममी प्यार भी बहुत करती हैं…पड़ोस की मम्मियों से ज्यादा…मेरी ममी सचमुच बहुत अच्छी हैं, अंकल। आज आपने उन्हें हंसाया तो मुझे बहुत अच्छा लगा…आप मुझे चाकलेट मत खिलाइए, बस, ममी को हंसा दिया कीजिए।" बच्चे की आंखों में आंसू भर आते हैं—"हां, अंकल, सिर्फ ममी को हंसा दिया कीजिए…बस!"

एन्थोनी कुछ क्षण स्तब्ध बना रहता है, अपना रूमाल निकालकर बच्चे के आंसू पोंछता, फिर बच्चे को गोद में लेकर दौड़ पड़ता है—"चलो बेटे, तुम्हारी ममी तो बहुत आगे निकल गई…जल्दी से उन्हें पकड़ें…और तुम्हें चाकलेट भी मिलेगा, तुम्हारी ममी को हंसी भी …यदि मैं यह हंसी उन्हें दे सका तो! काश! चाकलेट की तरह हंसी भी खरीदी जा सकती तो एन्थोनी अपना सब कुछ बेचकर भी तुम्हारी ममी को हंसी खरीद देता…लेकिन बेटे, अनमोल हीरे-मोती खरीदे जा सकते हैं, एक सीधी-सादी हंसी नहीं, लेकिन तुम यह हीरे-मोती और

हंसी की फिलासफी अभी नहीं समझोगे···? खैर मैं प्रामिस करता हूं बेटे कि मैं तुम्हारी ममी की हंसी को, जो शायद कहीं खो गई है, ढूंढ़कर वापस ले आऊंगा। लेकिन बेटे, तुम्हारी ममी तो 'अनामा' है, तुम्हारा तो कोई नाम होगा ? क्या नाम है तुम्हारा, बताओ ?"

बच्चा एन्थोनी के गले में बांहें डाल देता है, उससे लिपट जाता है —"पता नहीं अंकल, मेरा कौन-सा नाम सच है। स्कूल में 'प्रेज़ेन्ट सर' कहते समय मेरा नाम 'समीर कपूर' होता है···ममी मुझे पप्पू-बबलू से लेकर उल्लू, पाजी, डियरमोस्ट···न जाने कितने नामों से पुकारती हैं··· और आपने मुझे चाकलेट नाम दे दिया है···अब आप ही सोच लीजिए, मेरा कौन-सा नाम 'सच' है···?"

एन्थोनी बच्चे को कसकर सीने में भींचता है···एक चुम्बन लेता है, गोद से उतार देता है—"नाम का फैसला फिर करेंगे बेटे। वो देखो, बस स्टाप पर खड़ी तुम्हारी ममी घबराई-सी इधर-उधर सब तरफ देख रही हैं, हमें ढूंढ़ रही हैं···शायद समझ रही हैं कि मैं तुम्हें उठा ले गया···जरूर यही समझ रही होंगी···चलो, पहले तुम्हें उन्हें सौंप दूं, और देखो, जो तुमने मुझसे कहा है, उनसे मत कहना, प्रामिस ?"

"प्रामिस अंकल ! पक्की प्रामिस !" बच्चे का स्वर रुंध जाता है। वह सिसकने लगता है। रूमाल निकालकर एन्थोनी जल्दी-जल्दी फिर उसके आंसू पोंछता है—"अगर तुम रोओगे तो तुम्हारी ममी कैसे हंसेगी ? ममी की खातिर हंसो मेरे चाकलेट—हीरो, हंसो···।" बच्चे को गुदगुदा देता है। बच्चा खिलखिलाकर हंसने लगता है। एन्थोनी, दूसरी ओर चेहरा मोड़कर पल भर के लिए रूमाल अपनी आंखों से लगाता है। एक दीर्घ निःश्वास को दबाकर ज़ोर से हंस पड़ता है। बच्चा और एन्थोनी हंसते-हंसते बस स्टाप पर पहुंचते हैं—"हम आ गए मैडम ! हम आ गए। बस आने के पहले आ गए। इन हज़रत की नेकर ढीली भी हो गई थी, गीली भी होनेवाली थी, नेकर गीली होने से बचाने में दो-चार मिनट लग गए।"

युवती सहज होकर हंस पड़ती है—"ओह ! मैं तो सचमुच घबरा गई थी।"

एन्थोनी भी हसता है—"बताऊं आप क्यो घबरा गई थी ? आपने समझा होगा कि मैं इस चाकलेट को 'किडनैप' कर ले गया···बोलिए, सच कहिए, यही समझा था न।"

युवती सिर झुका लेती है—"जिन्दगी मे इतने धोखे खाए हैं, मि० एन्थोनी कि खुद पर भी विश्वास न रहा···आप ही क्या, मैं स्वय भी, किसी भी समय, कुछ भी कर सकती हूं।"

"आप फिर सीरियस हो गईं···अरे, आज की शाम तो जश्न मनाने की है, चाकलेट हीरो के नाम पर, इनकी जान बच जाने के नाम पर ! बताइए, क्या इनाम देंगी मुझे ? बन्दा बिना इनाम लिए आपको बख्शने वाला नही। सीधे से नही देंगी, तो वसूल करूंगा···पेशे से इंस्पेक्टर हूं, याद रखिएगा।" एन्थोनी के स्वर में आवेश में घुला मजाक है···खरखरे स्वर में एक कम्पन है, कठोर चेहरे की रेखाएं कोमल हो उठी हैं···

युवती का स्वर, मुख, भगिमाएं···भी कोमल हो उठती हैं··· नियान लाइट के लैम्प पोस्ट के नीले प्रकाश में उसका मुख एक कोमल आभा से नहा जाता है···। युवती की वह आभा एन्थोनी की आखो में प्रतिच्छवित हो उठती है···।

बस-स्टाप की भीड़-भाड़ और शोर में दूर-दूर खड़े, युवती और एन्थोनी, जैसे एक-दूसरे के समीप आ जाते हैं। युवती का उज्ज्वल, कोमल मुख तो कदाचित् अपनी उज्ज्वलता के कारण नीलाभा से आलोकित हो उठा है···किन्तु एन्थोनी के सांवले पुरुष मुख की रेखाएं भी आलोकित हो उठी हैं···कदाचित् युवती के मुख की आभा उसकी छोटी-छोटी आखो में उभर आती है···इसीलिए ! युवती की बड़ी-बड़ी खूबसूरत आखो की तुलना मे, एन्थोनी की आखें बहुत छोटी हैं, उनमे कोई खूबसूरती भी नहीं···बस एन्थोनी की आखें, इन क्षणो युवती की दीए-सी आंखों का···दीए-सी झिलमिलाती आंखो का दर्पण बन उठी हैं···।

तेज़ी से बस आती है···भीड़ 'क्यू' तोडकर बस मे घुसने लगती है, धक्कम-धक्का होने लगा है···एन्थोनी एक हाथ से बच्चे को गोद में उठाता है, दूसरे हाथ से युवती का हाथ कसकर पकड़ता, खींचता-सा भीड़ चीरता, बस में चढ जाता है, युवती को सहारा देकर चढा लेता

है···एक सीट की ओर इशारा करता है—"जल्दी से वैठिए इसपर, चाकलेट को गोद में वैठा लीजिए। मैं खड़ा रह सकता हूं, मेरी चिन्ता मत कीजिए, कम आन।"

खचाखच भरी वस तेज रफ्तार से चल पड़ती है। एक-दूसरे से सटे वैठे या खड़े लोगों की भीड़, उन कुछ क्षणों के लिए भी, इस फिराक में है कि वैठने या खड़े होने की कुछ और सुविधा मिल जाए···चाहे इस कुछ क्षणों की सुविधा के लिए किसी और को कष्ट हो जाए···युवक या सवल, एक छीना-झपटी की मुद्रा में हैं, वूढ़े या दुर्वल असहाय मुद्रा में···। एक उद्दण्ड युवक, टिकट देते कण्डक्टर से घूंसा जड़ने की मुद्रा में कह रहा है—"साले, टिकट के चाजज चौगुने कर दिए और फिर भी खड़ा रखते हैं···पहले वैठने के लिए सीट दो, फिर टिकट के पैसे दूंगा···।" कण्डक्टर ईंट का जवाव पत्थर से देता है—"वस क्या तेरे वाप की है! निकाल पैसे और टिकट ले, वरना सारी रात ससुराल में रहना होगा, और जूते खाएगा, वो खातिर अलग···! वेटा, एक रात जेल की हवा खाओगे तो जवानी का सारा नशा उतर जाएगा···! लेता है टिकट या बुलाऊं किसी तेरे वाप को ?" युवक जलती आंखों से कण्डक्टर को घूरता, पैसे देता है, टिकट ले लेता है।

एक दुर्वल, वृद्ध ग्रामीण व्यक्ति, एक गठरी से टिका, सीट पर नहीं, वस के फर्श के कोने में थैला लिए वैठा है। शायद कण्डक्टर ने उसे देखा नहीं, वह आवाज़ देता है—"ए टिकटवाले भैया, हमार टिकट दे देओ, नाहीं तो गड़वड़ में रह जाएगा···।"

वह उद्दण्ड युवक और कण्डक्टर एक साथ उस वृद्ध को देखते हैं। कंण्डक्टर विना कुछ कहे उसे टिकट काट देता है। पैसे लेता है, औरों को टिकट देने लगता है···वीच-वीच में कण्डक्टर और उस युवक की निगाहें टकराती हैं···युवक पराजित-सा खिड़की के वाहर देखने लगा है।

"आप ठीक से हैं ?" वस के धक्कों से हिलता, कसकर राड पकड़े एन्थोनी झुककर पूछता है, "तमाशा देख रही हैं ?"

"तमाशा···। हां, देख रही हूं···जिन्दगी के ऐसे तमाशे रोज ही

देखा करती हूं···।एक तमाशा खुद भी तो हूं···!" युवती स्वयं पर व्यंग्य करती है। स्वयं पर, ऐसे निर्मम व्यंग्य करती वह, एक अजीब तुष्टि पाती होती है···जैसे चोट खाते-खाते भी, विवशता की स्थिति में कोई स्वयं को ही और आहत कर लेता है···।

"अरे, आप तो ठीक से खड़े भी नहीं···।" युवती व्यग्र हो उठती है– "मैं तो आराम से बैठी हूं, और आपका चाकलेट तो सो भी गया ···लेकिन आप···" युवती का स्वर व्यग्र भी है, कातर भी। बस की भीड़-भाड़, शोर, धक्कों के बीच भी, ये क्षण युवती के भीतर गहरे उतर गए हैं···उसकी आंखों का मरघल नम हो उठा है···।

"मैं···?" एन्योनी ठठाकर हंस पड़ता है—"मैं कम-से-कम तेरह घण्टे ऐसे ही खड़ा रह सकता हूं, मुझे क्या होना है ? जानती हैं, इस भैंसे का, यानी कि मेरा वजन कितना है···? अजी, वजन लेने के लिए मशीन पर खड़ा होता हूं, तो कांटा घूमकर स्टार्ट पर आ जाता है···। क्या करे बेचारी मशीन भी, मेरा वजन ले पाना उसके बस की बात नहीं···।"

युवती हंस पड़ती है···मुख की, आंखों की, स्वर की सारी भंगिमाएं एक शबनमी हंसी से स्नात् हो उठी हैं···। एन्योनी, युवती को एक नजर देखकर, दूसरी ओर बाहर देखने लगा है। युवती, एन्योनी की आंखों में कोई प्रतिक्रिया देखना चाहती है···किन्तु एन्योनी दूसरी ओर देख रहा है···वह जैसे सप्रयास बाहर की ओर ही देखता रहता है।

"लीजिए मेरा स्टाप तो आ गया !" कहती युवती उठने लगती है। एन्योनी तत्परता से बच्चे को उसकी गोद से ले लेता है—"तो चलिए, संभल कर उतरिए, मैं भी आपके साथ हूं···न···न घबराइए नहीं, आपको तंग नहीं करूंगा·· बस, आपको आपके घर के दरवाजे तक छोड़ दूं···और वह भी इस चाकलेट के खातिर···वरना···।"

रात काफी हो चुकी है। वे बस से उतरकर चलने लगते हैं। युवती आहत-सी चुपचाप चल रही है। उसके तने कदम शिथिल हैं, सांसें बोझिल-सी। लगभग जनहीन, नीरव सड़क पर साथ-साथ चलते वे फिर दूर-दूर-से हो उठे हैं···।

"माफ कीजिएगा, आप शायद बुरा मान गईं...बदतमीज़ी के लिए माफी चाहता हूं...मैंने आपको बताया है न, पेशे से इंस्पेक्टर हूं, वर्दी पहनते ही जानवरों को इन्सानियत समझाने के लिए खुद जानवर बन जाता हूं...जी हां, हमारे कानून का यही कायदा है...मैं भी गालियां बकता हूं...कोड़े फटकारता हूं...ठोकरें मारता हूं...तब जाकर साले काबू में आते हैं...पहले कुछ दिन, यह सब करते अजीब-सा लगता था...दर्द-सा होता था, फिर आदत पड़ गई...पता नहीं, अब दर्द मर गया है, या दर्द का अहसास...आप बता सकेंगी...कौन मरा है, दर्द या दर्द का अहसास या एन्थोनी खुद ही पूरा का पूरा मर चुका है...? आपके साथ कहीं एन्थोनी का भूत तो नहीं चल रहा...?" एन्थोनी खरखरे स्वर में, व्यंग्य-भरी हंसी हंसने लगता है। किन्तु युवती को लगता है, वह हंसी, आंसुओं को दबाती, मराई हुई है...।

युवती सहसा रुकती है, फुटपाथ पर बैठ जाती है—"आइए, जरा देर मेरे पास बैठ जाइए...तो देखूं आप सच में भूत तो नहीं?" युवती अपलक एन्थोनी को देख रही है...ऊपर तारों भरा आकाश है...रात गहरा उठी है...सड़क लगभग जनहीन है...एन्थोनी आवाक्-सा फुटपाथ पर, युवती के पार्श्व में बैठ जाता है...वे अपलक, निश्शब्द एक-दूसरे को देख रहे हैं...युवती धीमे स्वर में बोलती है—"अब तक मेरा इन्सानों के बारे में एक ही अनुभव रहा, अनुभव यानी कि 'एक्सपीरियेन्स'...कि ये दो पैरों पर चलनेवाले अपने नाखून और दांत छिपाए रहते हैं...मौका पाते ही नोंचने-काटने लगते हैं...और अपने शिकार को घायल कर या मारकर फिर नाखून और दांत छिपा लेते हैं...लेकिन, आज आपको देखा तो लगा कि कभी-कभी दो पैरों पर चलनेवाले, सचमुच दो पैरों पर चलनेवाले भी होते हैं...कोई मिस्टर एन्थोनी-जैसे इन्सान भी होते हैं...नहीं, एन्थोनी के भूत होते हैं...! आप सचमुच भूत हैं...एन्थोनी...इन्सान आप जैसे कहां होते हैं!"

एन्थोनी अस्फुट, विभोर स्वर में कहता है—"तो फिर आपको मुझसे डरना चाहिए...कैसी अजीब हैं आप भी कि भूत से नहीं डरतीं...!"

युवती केवल मुस्कराती रहती है। एन्थोनी का थरथराता, भाव-

विभोर स्वर, सहसा जैसे होश मे आकर सपाट हो उठता है—"चलिए, मैडम, आपको आपके स्टाप पर पहुंचा दू···आपका फुलस्टाप मेरा कोमा होगा, मतलब समझी···अरे भई, जब हम या आप कुछ लिखते हैं तो कोमा और फुलस्टाप लगाते हैं ना, फिर पैरा भी बदलते हैं···तो आपका फुल-स्टाप मेरा कोमा होगा ! बस, और कुछ नही···बन्दा तो बिना कोई सेन्टेन्स पूरा किए, पैरा ही बदल देता है। नही समझी मतलब ? तो लीजिए, साफ-साफ बता दू कि आपके इस भूत में शराब और औरत की कमजोरी है···हालाकि मैं इसे अपने लफ्जो मे मजबूरी कहता हू··· लेकिन आप भी इसे कमजोरी या हैवानियत ही कहेगी, जानता हू···। मेरा भी एक अनुभव है···यानी कि 'एक्सपीरियन्स'···कि यदि कोई दो पैरोवाला ऊपर उठनाचाहे तो ये माले दुनियावाले उसकी टागें नीचे घसीटते हैं··· जब तक कि उसे गिरा ही नही देते···लेकिन, यदि कोई नीचे गिरना चाहे तो उसे बडे प्यार से लुढकाते हैं, ऐसे उलटे-सीधे धक्के देते हैं कि वह सभलना चाहे भी तो नही सभल सकता···मैं भी कहां सभल पाया···और अब तो शायद बहुत देर हो चुकी है··· इतना नीचे गिर चुका हूं कि ऊपर उठना नामुमकिन है···होगा ! लेट अस फारगेट द फिलासफीज आफ लाइफ एण्ड जस्ट लिव इट ! लिव दीज ब्युटीफुल मोमेन्ट्स ओनली···! सच, ये कुछ पल आप-जैसे ही खूबसूरत हैं···मुझे इनमे जी लेने दीजिए···मर चुके एन्थोनी को ये इने-गिने खूबसूरत लमहे जीने के लिए दे दीजिए, सिर्फ कुछ देर के लिए !"

युवती मौन, एक उदास हसी हसती रहती है। फिर धीरे-से कहती है—"सिर्फ आपको बता दू···मैं इस चाकलेट की मा हूं···आन्टी नही !"

एन्थोनी चकित नही होता, ठण्डे स्वर मे कहता है—"जानता हू··· जब चाकलेट डूब रहा था तब आपकी आखो मे बहे आंसू मां के ही थे।"

एन्थोनी का कातर कण्ठ और कोमल हो उठता है—"हा मैडम ! जानता हू ये सितारोंवाली रात टिकेगी नहीं···मैं कह चुका हू, मैं शायर नही हूं, बात कहने का सलीका भी मुझे नहीं आता···फिर भी अगर अपने बेवकूफ लफ्जों मे कहू, तो कहूंगा—कड़ी धूप मे चलते-चलते

खोपड़ी चिटखने लगी थी···आपने दो पल की छांह-सी दे दी ! वैसे तो, एन्थोनी का सफर कड़ी धूप में खोपड़ी चिटकानेवाला ही रहेगा··· आखिरी सांस तक···। इसलिए इस दो पल की छांह के लिए 'थैंकफुल' हूं···आप इस छांह के रूप में मुझे हमेशा याद रहेंगी।"

एन्थोनी और वह युवती कुछ देर, एकटक आकाश को देखते रहते हैं···एन्थोनी झटके से उठ खड़ा होता है, घड़ी देखता है···स्पष्ट, सपाट स्वर में कहता है—"चलिए मैडम ! इट इज़ आलरेडी वेरी लेट, मुझे ड्यूटी पर जाना है···और आपका भी इतनी रात वाहर ठहरना ठीक नहीं, चलिए, नाउ क्विक प्लीज़ !"

"चलिए। मेरा फ्लैट सामने ही है।" वे तेज़ कदमों से बढ़ते हैं। युवती पर्स में से चाबी निकालकर दरवाज़े का ताला खोलती है—स्विच आन करती है, "अन्दर नहीं आएंगे ?" युवती का स्वर भी अब स्थिर एवं सपाट है, आंखें सूनी, मुख भाव-शून्य हो उठा है···।

"जी नहीं, आज तो अब इजाज़त चाहूंगा ! चाकलेट को संभालिए ···" वह बच्चे को युवती की गोद में देने से पूर्व, पल भर के लिए, सीने से सटाकर उसका बायां गाल चूम लेता है···विह्वल-सा हो उठता है— "चाकलेट ने मुझसे एक प्रामिस करवाई थी···शायद मैं उसे पूरा नहीं कर सकूंगा। उसे कुछ भी कहकर बहला दीजिएगा···अच्छे-अच्छे कातिलों से जुर्म कबूल करवा लेनेवाला इन्सपेक्टर एन्थोनी भी, आज के पहले कहां जानता था कि वह एक निहायत बुज़दिल हस्ती है···कि एक नन्हें बच्चे से किया एक छोटा-सा वादा भी पूरा नहीं कर सकेगा···उसकी ममी को हंसाते रहने का। आई एम सारी···।"

एन्थोनी झटके से मुड़कर चलने लगा है। युवती चाकलेट को गोद में लिए दरवाज़े पर खड़ी रह गई है···एन्थोनी मुड़कर नहीं देखता··· तेज़ कदमों से चलता, मोड़ पर मुड़कर अदृश्य हो जाता है···युवती स्तब्ध-सी एन्थोनी को मोड़ पर अदृश्य होते देखती है···फिर धीरे-से झुककर चाकलेट के उसी बाएं कपोल को हलके से चूम लेती है···जिसे कुछ पल पूर्व एन्थोनी ने चूमा था।

"अब मुझे भी जल्दी सो जाना चाहिए। कल आफिस का 'शेड्यूल

टाइट' है।" युवती स्वयं से कहती, बच्चे को सुलाकर···स्वयं भी सोने की तैयारी करने लगती है···जूड़े के पिन निकालकर बाल रिबन से बांधती है, साड़ी उतारकर नाइटी पहनती है, चेहरा धोकर आइने के सामने खड़ी होकर कोल्ड-क्रीम लगाती है···स्विच आफ करके बिस्तर पर लेटती है···तो खिड़की में दीखता, बिल्कुल सामने, मंगल तारा बहुत ज्यादा चमकता लगता है···' आज यह कम्बख्त सोने नहीं देगा···।" वह गुस्से में उठकर खिड़की बन्द कर देती है। किन्तु घुप अंधेरे में मुंदी पलकों में एक नहीं, अनेक तारे चमकने लगते हैं—"ओह माइ गुडनेस ! आज नींद आने से रही···"वह उठकर ट्रैंक्विलाइज़र की एक नहीं, दो गोलियां एक गिलास पानी से गटकती है···सोचती है, शायद एन्थोनी भी इन क्षणों में 'कुछ' भूलने के लिए जाम पी रहा होगा···और शायद उसकी आंखों में भी एक नहीं, अनेक तारे चमक रहे होंगे···! पता नहीं, ऐसी सितारोंवाली रात उसके और एन्थोनी के बीच फिर कभी आएगी, या नहीं···? नहीं ही आएगी···वह जानती है···। 'फिर भी कड़ी धूप में चलते-चलते खोपड़ी चिटकने की स्थिति से दो पल की यह छांह याद रहेगी···।' एन्थोनी के शब्दों को मन में दुहराती, वह बेचैनी में करवटें बदलती रहती है···फिर जाने कब···नींद में नहीं, नींद की गोलियों के नशे में डूब जाती है···।

एक अदद औरत

उनके गिर्द सदा सब कुछ सामान्य-सा रहा है—उस उम्र से, जब ह स्वयं गुड़िया खेलती थीं, इस उम्र तक, जब उनकी नातिनें और ोतियां गुड़िया खेलने लगी हैं ।

अभी कल ही तो उनकी सबसे छोटी पोती प्रभा अपनी कपड़ों की बनी गुड़िया की मांग मोतियों से भरवाने, सारी दोपहर उनका सिर खाती रही। वह कपड़े की गुड़िया उन्होंने ही बनाकर प्रभा को दी थी—काले रेशम की लम्बी चोटी, लाल रेशम के होंठ, गुलाबी रेशमी कपड़े के हाथ-पांव···प्रभा ज़िद करने लगी थी, "दादी मां, इसे लाल-लाल छाली पहनाओ ना, जेछी दुल्लन पहनती है !" उन्होंने बहुत ढूंढ़ा, इतना लाल कपड़े का टुकड़ा नहीं मिला कि गुड़िया की साड़ी बन पाती । फिर प्रभा कह रही थी, "छाली चमक-चमक होनी चाहिए···" अर्थात् सितारे-जड़ी, गोटे-किनारी वाली, चमकीली, जैसी दुलहन पहनती है।

तीन वर्ष की प्रभा की अबोध चेतना में भी 'दुलहन' का रूप स्पष्ट था। मुहल्ले में रोज़ ही होते शादी-ब्याह में जाती नन्हीं प्रभा ने लड़कियों को दुलहन बनते देखा था···मेंहदी, महावर, बिन्दी, चूड़ियों से भरी कलाई, सिन्दूर से भरी मांग, नाक में झूलती नथनी···और लाल साड़ी ! सप्ताह भर पूर्व पड़ोस की लड़की लाली के ब्याह से लौटकर उसने दादी से पूछा था, "दादी अम्मा, लाली मौछी तो दुल्लन बन गई, मैं दुल्लन कब बनूंगी ?" और दादी ने देखा था, नन्हीं प्रभा को और तो कुछ मिला नहीं था, लेकिन उसने मां की डिबिया का सारा सिन्दूर अपने सिर पर उलट लिया था···मांग ही नहीं, माथा और सारा चेहरा भी सिन्दूर से रंग गया था।

प्रभा की मां चीख रही थी, "निगोड़ी ने मारा सिन्दूर बिखेर दिया···! मांजी, इसे दीजिए दो थप्पड़ !"

लेकिन दादी मां पोती को थप्पड़ नहीं जड़ सकी थी। खींचकर उन्होंने उसे कलेजे से सटा लिया था और प्रभा की मां को सुनाते जोर से बोली थी, "अरे, दो क्या, चार थप्पड़ जड़ रही हूं···मरी, चुड़ैल को···!" लेकिन चार थप्पड़ नहीं, प्रभा के सिन्दूर-पुते कपोलों पर चार चुम्बन जड़ दिए थे। प्रभा की अबोध चेतना में थप्पड़ों की बजाय चुम्बनों का क्या अर्थ समझ में आ पाया था, वह उसे शब्दों में बताना कहां आता था···? किन्तु अबोध प्रभा और बोधमयी उसकी दादी, दोनों की चार आंखें उन चार चुम्बनों से जुड़-सी गई थीं···उन चार आंखों में नमी थी···निश्शब्द नमी···! उस निश्शब्द नमी के बीच दादी मां पोती को देर तक कलेजे से सटाए रही थी, फिर धीरे-से सिखाया था, "अपनी मां से कहना कि दादी मां ने खूब मारा है, अच्छा···!"

प्रभा ने पलकें उठाईं, "झूठ बोलूं ?"

दादी और धीरे से फुसफुसाईं, "अरे मरी, तुझे झूठ-सच की क्या पड़ी है ! जो कह रही हूं, वैसा कर, नहीं तो सचमुच पिटेगी···!"

फिर प्रभा उनके पीछे पड़ गई थी, "लाली मौसी जैसी दुल्हन गुलिया बनाकर दो ना दादी···!" और उन्हें गुड़िया बनानी पड़ी थी। फिर जब लाल कपड़े का टुकड़ा ढूंढे न मिला, तो उन्होंने अपने ही ब्याह की तार-तार हो उठी लाल चुनरी का एक अच्छा-सा टुकड़ा निकालकर प्रभा की गुड़िया को खूब घेरदार साड़ी पहना दी। "अब ये बिल्कुल लाली मौसी बन गई ना दादी मां···!" प्रभा की आंखें उल्लास से दमकने लगी थीं। शायद वह अपने दुलहनवाले रूप को भी उस गुड़िया में देख रही थी··· प्रभा को, दादी मां को भी तो अपना दुलहनवाला रूप याद आ गया था···पोती और दादी फिर एक बिन्दु पर एकात्म हो उठी थीं।

लेकिन जब कल प्रभा गुड़िया की मांग मोतियों से भरवाने की जिद करने लगी थी, तो उन्होंने सचमुच उसे एक थप्पड़ जड़ दिया था, "अब मोती क्या मेरे हाथों में भरे हैं, जो निकालकर तेरी गुड़िया की खोपड़ी में भर दूं···? निगोड़ी माने ही ना···! ले, लाल रेशम से तो मांग भर

दो···दुलहन की मांग सिन्दूर से ही तो भरी जाती है···मोती मिले, ना मिले !"

प्रभा थप्पड़ खाकर, सहमकर चुप हो गई थी···वह उदास हो उठी थीं···हां, औरत की मांग चुटकी भर सिन्दूर से तो अवश्य भरी जाती है···मोती मिले न मिले। उनकी आंखों से आंसू बहने लगे थे। दीवार से सिर टेककर उन्होंने आंखें मूंद ली थीं। उनकी बन्द पलकों की कोरों से झरते आंसुओं को अपनी नन्हीं हथेलियों से पोंछती प्रभा कह रही थी, "दादी मां, लोओ मत ! अब कभी मोती नहीं मांगूगी···!" फिर प्रभा भी रोने लगी थी।

"जा, अब खेल ! बन तो गई तेरी गुड़िया दुलहन लाली मौसी जैसी ! इसे गन्दी मत करना···संभालकर रखना···ले, ये चार आने आइसक्रीम खा लेना···!"

लेकिन रात के दस बजे प्रभा चुपके-से अपनी मां के पास से उठकर उनके बिस्तर में आ घुसी थी। उनकी गरदन को उसने अपनी नन्हीं बांहों से घेर लिया था।

"बोल न, अब क्या है···?" वह थकान और नींद से बोझिल पलकें खोल नहीं पा रही थीं।

"चाल आने के मोती खलीद लाई हूं···गुलिया की मांग में मोती भल दो ना दादी मां !" प्रभा उनके गाल से गाल सटाए कह रही थी।

"अरी कमबखत···तू भी बस···!" वह और कुछ भी नहीं कह पाईं, उठ बैठीं, "ला, दे मोती···तेरी गुड़िया निगोड़ी की मांग मोतियों से भर ही दूं···तभी तू पिण्ड छोड़ेगी···!" प्रभा ने काग़ज़ की एक पुड़िया और गुड़िया उनके सामने रख दी। पुड़िया में लाल-लाल मोती थे··· "कोनेवाले बिसाती से लाई होगी···आइसक्रीम नहीं खाई, मोती ले आई···! पूरी चुड़ैल है ये छोकरी भी···!" उनकी आंखों में तरलता और होंठों पर मुस्कान साथ-साथ उभरी, अन्तस् में एक दीर्घ उच्छ्वास भी, "हे राम ! औरत तो औरत···!"

रात के ग्यारह बजे भी उत्सुक उल्लास से भरी आंखें लिए प्रभा, गुड़िया की मांग में लाल-लाल मोती भरे जाते, टांके जाते देख रही थी···

दादी को अपना विगत···अपने नारीत्व से जुड़ा अपना हर रूप, अपनी वेटी, और वधू से मां और दादी-नानी बन उठा सारा अतीत, वर्तमान उस कपड़े की गुड़िया में प्रतिच्छवित दीख रहा था···प्रतिबिम्बित, जैसे वह गुड़िया को नहीं, दर्पण देख रही हो···धीरे-धीरे, यह सामने बैठी प्रभा भी, जिन्दगी के प्रहरों में गुजरती वधू, मां, दादी-नानी बन उठेगी··· भोर की पहली किरन जैसी यह अबोध बालिका···पहले यौवन के बसन्त का आगमन देखेगी···अपने अंगों में···प्राणों में···फिर पतझर झेलेगी··· जिन्दगी की खुश्क हो उठी हवाओं में पीली पत्तियों-सी उमड़ती शामों का पतझर···फिर इसकी इन भोर की किरन जैसी दमकती आंखों में भी रात की स्याही उतर आएगी···थकान···हार···टूटन से भरी। वह ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं हैं, किन्तु वर्षों पूर्व जाने कब, न जाने कहां पढ़ी किसी कविता की दो पंक्तियां उन्हें आज तक याद रही आई हैं—

विहसती आती है हर भोर
बिलखती जाती है हर शाम···

वह इन पंक्तियों का अर्थ शब्दों में समझा भी नहीं सकती···बस, महसूस कर सकती हैं, करती रही है।

गुड़िया की मांग लाल मोतियों से भरवाकर, उसे कसकर छाती से चिपकाकर पोती प्रभा तो गहरी नींद सो गई, किन्तु दादी मां की आंखों से नींद उड़ चुकी थी। वह नींद में डूबी प्रभा को अपलक देख रही थीं··· नींद में कभी-कभी वह मुस्करा उठती थी, जैसे कोई सुहाना सपना देख रही हो···जरूर कोई 'दुलहन' वाला सपना देख रही होगी···पगली···। उन्होंने प्रभा की नींद में डूबी पलकों को चूम लिया—धीरे से···कहीं जाग न जाए। सवेरा हो चला था। गोविन्दजी उठकर खटपट करने लगे थे। अभी दहाड़ेंगे, 'अरे विद्या की मां, चाय लाओ ! क्या कुम्भकरण की नींद सोनी हो !'

उनका नाम सीता हैं—सीतादेवी। गोविन्दजी उनके पति हैं— गोविन्दप्रसाद व्यास। सारे जीवन क्लर्क से हेड क्लर्क तो नहीं बन सके, लेकिन सीतादेवी के लिए फौजी कप्तान बने रहे आए—'ऑर्डर इज

ऑर्डर !' की शैली में। वह फौजी बूट तो नहीं पहनते थे, साधारण जूते-चप्पल ही पहनते थे, किन्तु सीतादेवी जानती हैं कि कैसे गोविन्दजी ने किन्हीं अदृश्य फौजी बूटों से उन्हें रौंदा है···ठीक उन अंग्रेज़ फौजियों जैसे, जो उनके बचपन में उनके गांव में घुस आए थे···और बागों से लेकर औरतों तक को उजाड़ गए थे ! उन अंग्रेज़ फौजियों के वे भारी-भारी बूट सीतादेवी की आहत स्मृति में आज भी ताजे घाव-से अंकित हैं। तब वह प्रभा जितनी रही होंगी···उसके बाद का बहुत कुछ वह भूल चुकी हैं···किन्तु वे फौजी बूट उन्हें याद हैं···जो उनके घर में भी घुसे थे और उनकी बुआ को खाट पर से खींच ले गए थे···बालिका सीता अपनी मां के साथ, ओसारे में रखे लकड़ियों के ढेर के पीछे दम साधे, दुबकी हुई थी···विरोध करते पिता पिटकर बेहोश हो गए थे···छोटे-छोटे दो भाई खाट के नीचे छिप गए थे···बस, सीता की युवती क्वांरी बुआ उन दरिन्दों का शिकार बन गई ! दूसरे दिन बुआ ने कुएं में छलांग लगा दी थी···आज भी सीता को याद आता है···बुआ का नाम गौरी था···आम की फांक जैसी आंखें···पतले होंठ···हंसती, तो गालों पर गढ़े पड़ते थे···। बहुत मीठी आवाज़ में वह सीता को लोरी सुनाती थी। बालिका सीता उस मीठी आवाज को सुनने के लिए रात में ही नहीं, दिन में भी नींद का बहाना करती, गौरी बुआ के गले से झूल-झूल जाती, "बुआ, नींद आ रही है, लोरी सुनाओ न !" बुआ का ब्याह होनेवाला था, रिश्ता पक्का हो गया था, तभी दुलहन बननेवाली, डोली में बैठनेवाली बुआ, चिता पर सुला दी गई···

बालिका सीता बहुत रोई थी, "मां, बुआ क्यों मर गई ? तुमने उसे क्यों मर जाने दिया ? बुआ ने क्या किया था, मां···? बुआ तो इत्ती अच्छी थी···बोलो···बोलो, बुआ क्यों मर गई···?"

सीता की मां, ननद की क्वांरी रौंदी देह को कफन उढ़ाती, बांस की अरथी पर रखती, निश्शब्द रोती रही थी···मुंह में आंचल ठूंस लिया था···। सीता चीख-चीखकर अपने प्रश्न दुहराती रही···थककर चुप हो गई···उसे किसीने कोई उत्तर नहीं दिया। गौरी बुआ की मृत्यु का उत्तर सीता की समझ में स्वयं आ गया, जब वह स्वयं बुआ की उम्र की हो

गई···और उसकी क्वांरी देह में फूलों के खिल उठने के साथ उनके रौंदे जाने का अर्थ भी समझ में आ गया···। सीता की आंखें भी आम की फांकों जैसी थीं···हंसती तो गालों पर ठीक गौरी बुआ जैसे गढ़े पड़ते थे····बिल्कुल गौरी पर गई है···!' एक दीर्घ नि:श्वास लेती मां, युवती सीता का माथा चूमती, जैसे अपने-आपमें कहती, 'गौरी का रूप पाया, सो तो ठीक, कहीं उस जैसा भाग न पा लेना···!'

आशंकित माता-पिता ने सीता का ब्याह चौदह वर्ष की उम्र में ही कर दिया····गोविन्द उम्र में नौ साल बड़े हैं, तो क्या हुआ ! और सब तो ठीक-ठाक है। मर्द की उम्र नहीं देखी जाती। गोविन्द विधवा मां के एकलौते हैं। क्लर्की की नौकरी ही सही, बेकार तो नहीं। हां, एक आंख कुछ भेंगी है, तो भी क्या हुआ ? मर्द का रूप नहीं देखा जाता !' सीता के लिए इससे अच्छा वर-घर जुटा सकना उसके माता-पिता के लिए असम्भव था। शहनाई के स्वरों के बीच, गांव के स्टेशन तक डोली में बैठी, फिर तीसरे दर्जे के जनाने डब्बे में नाइन के साथ बैठा दी गई। सीता की समझ में अधिक कुछ आना भी असम्भव था, सिवा इसके कि उसकी कोमल हथेली को पाणिग्रहण के समय ही जिस कठोर हाथ ने कसकर दबा दिया था, उस हाथ का स्वामी, अब उसका भी स्वामी है, उसका पति-परमेश्वर ! फिर भी पाणिग्रहण के समय, मन्त्रों की ध्वनि के बीच, अग्नि की पवित्र प्रदक्षिणा की सद्य:साक्षी में, उस पति-पुरुष का वह पाशविक-सा स्पर्श, सीता की निर्वाक् कोमलता को, हथेली से परे···धड़कनों में गुंथी किसी अनछुई कोमल कामना को आहत कर गया था। उसे याद आ रहा था, अभी कुछ दिन पहले ही तो एक बाज झपट्टा मारकर एक गौरैया को उठा ले गया था—और वह "अरे···अरे···" कहती चीखती रह गई थी।

बारात में कुल जमा बारह व्यक्ति और थे। सब अपने-अपने ठिकाने विदा हो गए। गोविन्द के कसबे के स्टेशन पर वधू सीता को लेकर, रेल से उतरते, वे तीन रह गए थे—वर गोविन्द, वधू सीता और नाइन मौसी।

तांगा ठीक करते गोविन्द तांगेवाले से चार आने के लिए हुज्जत

करने लगे, तो रात भर की जगी सीता ने धीरे से कहा, "रहने दो जी, चार आने की ही तो बात है !"

गोविन्द की भैंगी आंख ऊपर चढ़ गई, "बहुत बड़े बाप की बेटी हो न, जो तुम्हारे लिए चार आने कुछ नहीं ? मेरे पास कारूं का खजाना नहीं है लुटाने के लिए ! और खबरदार, जो मेरे बीच में बोली···!"

सीता ने अपनी आम की फांक जैसी आंखें झुका लीं, उनमें आंसू भर आए थे। नाइन ने धीरे से पीठ पर हाथ रखकर, सीता के कान पर झुककर कहा, "रहै दौ बिटिया, ई सुनिहै ना !" नाइन के स्वर में एक घुटा आर्त्तनाद था···सीता के होंठों तक भी एक आर्त्तनाद आया था, जिसे उसने होंठ भींचकर वक्ष में उतार लिया था, आंखों के आंसू भी लौटा लिए थे···।

तांगे में सीता के पार्श्व में बैठते गोविन्द कर्कश आवाज में कह रहे थे, "देखो जी, घर में मेरी मां की चलती है, उन्हींकी चलती रहेगी। तुम्हें किसी बात में बोलने का कोई हक नहीं है···इतना ध्यान रखना !" फिर, सड़क पर पान की पीक पिच्च से थूकते गोविन्द तांगेवाले से कह रहे थे, "ऐ बड़े मियां, जरा नुक्कड़ पर तांगा रोकना, बीड़ी लेनी है।"

सीता ने कनखियों से, पार्श्व में बैठे अपने पति-पुरुष को देखा··· वितृष्णा से पन्द्रह वर्षीया सीता का सर्वांश सिहर उठा···इस आदमी के साथ उसे सारी जिन्दगी गुजारनी है···इसके घर में सारे जीवन रहना है···! गौरी बुआ को रौंद गए दरिन्दों में और इस बगल में बैठे आदमी में कोई फर्क है क्या ? गौरी बुआ तो रौंदी जाकर बड़ी जल्दी छुटकारा पा गई···सीता को तो शायद जन्म भर रौंदा जाना सहना है···!

मां ने विदा समय सीता को आलिंगन में भींचते कहा था, "बेटी अपने शास्तर में पति को भगवान कहा गया है···तेरा तो नाम ही सीता है, कुल की लाज रखना ! अपना धरम निभाना···!"

तांगे में हिचकोले खाती, भूखी-प्यासी, थकी, लाल चूनर में लिपटी, नववधू सीता का सिर चकराने लगा था···'हे भगवान, कुल की लाज··· धरम, शास्तर, पति-परमेश्वर···और क्या-क्या कहा था मां ने···?'

तांगे से ससुराल की देहरी पर उतरती सीता सचमुच चक्कर खाकर

गिर गई। नाइन ने सभाला। आरती का थाल लिए ननद ने आँखें नचाई, "आय हाय रे, हमारी भौजी को तो ससुराल की देहरी पर पाव धरते ही चक्कर आ गया···! अब कैसे निभेगी मौसी ?"

ननद सगी नही, गोविन्द की मोसेरी बहन थी। गोविन्द तो एकलौते ही थे। सास सामने आई, "अरी ओ री नइनियां, उठा अपनी बिटौनी को···! इसे मिर्गी-विर्गी की बीमारी तो नही···?"

नाइन और नही सह सकी·· यथासाध्य नम्र स्वर में बोली,"मांजी, हमार बिटिया में कोनो दोष नाही, न कोई बीमारी-वीमारी हय। मुदा, गुलाब का फूल है हमार बिटिया ! आप तनिक पियार से बोलो तो ठीक होय जाई···साइत हलकान होय गई है···घबराय गई है···उमिर ही का है अबही !"

लेकिन सासजी का स्वर पचम पर पहुच गया, "हा, हा, बड़ी गुलाब का फूल है तेरी लाडो···! तो हमने भी पूरे पाच हजार चुकाए हैं···! ऐसा ही था, तो इसका बाप इसे कोठे पर बैठा देता···नाज़ुक परी पांच क्या, पच्चीस हज़ार कमा लेती !"

सीता और नही सुन सकी, बस, चक्कर खाती उठकर उसने सास के पैर पकड़ लिए। नाइन ने एक गिलास ठण्डा पानी पिलाया, आचल भिगोकर पसीने मे नहाती सीता का मुख पोछा, "सबर कर बिटिया, सब ठीक हो जाई···!" नाइन धीमे-से फुसफुसाई। सीता ने देखा, नाइन की छोटी-छोटी आखो मे आसू लबालब भर आए थे।

तीसरे दिन नाइन जाने लगी, तो सीता उससे कसकर लिपट गई, "नाइन मौसी, मा से और कुछ मत कहना···बस इतना कहना, सीता सुख से है···बहुत सुख से है···!"

नाइन कुछ देर सिसकती सीता को वक्ष से सटाए रही, फिर बोली, "बिटौनी, हम तो मूरख-गवार हन···परन्तू तोहार माई-बाप तुमका कुएं मे ढकेल दिहिन···काहे ? इता हम उनसे जरूर पूछब···! पाच हजार टके के खातिर ऐसी गाय-अस बिटौनी का कसाइन के हाथ बेच दिहिन···! राम···राम···हे परभू !"

नाइन चली गई। सीता जानती थी, गौने की साइत तीन महीने

वाद की है···तव तक उसे मायके नहीं जाने दिया जाएगा···तीन महीने···! और अभी तो केवल तीन दिन हुए हैं···तीन दिन, या तीन युग···?

गोविन्द प्रायः रात को देर से लौटते। मुंह से शराव की दुर्गन्ध आती होती। कलाई पर चमेली का गजरा बंधा होता। खाट पर सीता को खींचते, लाल आंखों से घूरते, फटे स्वर में गाने लगते—"गोरी तोरे नैना कजर विन कारे···! भई, मानना पड़ेगा, हमारी दुलहन की आंखें लाख टके की हैं!"

ऐसे में सीता कसकर पलकें मूंद लेती। उन मुंदी पलकों में अंधेरा-ही-अंधेरा होता। सीता को लगता, वह किसी अन्धे कुएं में फेंक दी गई है, जहां अंधेरा-ही-अंधेरा है···चांद नहीं, सूरज नहीं, तारे भी नहीं··· वस, घना स्याह अंधेरा!

धीरे-धीरे सीता को 'दुर्गन्ध' की 'अंधेरों' की आदत पड़ गई···या शायद 'सुगन्ध' और 'उजालों' की उसकी चेतना ही अचेत हो गई थी···। उसने घर का सारा काम संभाल लिया था। केवल वरतन मलने एक महरी आई थी, वाकी सारा काम सीता के ज़िम्मे था।

"अरे, काम ही कित्ता है···कुल जमा हम तीन! हमने भी तो ज़िन्दगी भर सब किया है!" सासजी चौकी पर बैठी, माला फेरतीं दिन में दस वार सुनाया करतीं। सीता उन दो कोठरियों और रसोईघर के वीच सारे दिन चकरघिन्नी-सी नाचने लगी थी···और सारी रात उस शूल-शय्या पर सोते-जागते काटने लगी थी, जो उसकी सुहाग-सेज थी··· उस पुरुष के पार्श्व में, जिसकी 'दुर्गन्ध' को सहते वह पलकें मूंद लेती, होंठ भींच लेती···

"हमें तो साल भर में पोता चाहिए, वहूरानी! हां, समझीं! गोविन्द का व्याह जल्दी नहीं भया, नहीं तो अव तक तीन खेलते होते!" सासजी सीता को चेतावनी-सी देतीं। अव क्या यह भी सीता के वस में था···?

जल्दी ही सीता को दिन चढ़ गए। सासजी कुछ पिघल गईं।

की 'अग्नि-परीक्षा' वाला वह सस्ता-सा कैलेण्डर उसे इतना अपना क्यों लगता है···?

लेकिन, विवाह के पांचवें वर्ष में सीता के दिन फिरे। उसने दो आम की फांकों-सी आंखोंवाली बेटियों के बाद एक भेंगी आंखवाला बेटा जन ही दिया···! सास ने गीत गवाए। पीतल के कटोरे बांटे। देवी मां की मन्नत पूरी की। सीता को पूरे चालीस दिन कड़ुए तेल की मालिस करवाई। गोंद के लड्डू खिलाए।

"भगवान करे, तू पूरे पांच बेटे जने! तभी न इन दो निगोड़ियों का कर्ज़ पूरा होगा!"

सीता ने पहली बार सास के सामने आंखें ऊंची कीं, "क्यों मांजी, बेटियां ही बेटे जनती हैं, या बेटे आकाश से टपकते हैं? आप न होतीं, तो आपका बेटा भी कहां से जनमता? क्या बेटियों और बेटों के परानों में कोई फर्क होता है, जो आप रात-दिन विद्या और पद्मा को कोसा करती हैं···?" और सीता ने सास के सामने ही बेटे को खाट पर परे सरकाकर दोनों बेटियों को कलेजे से लगा लिया था···सास के सामने पहली बार सीता की पथरा चुकी आंखों से अविरल अश्रु झरने लगे थे··· सास के समक्ष, पहली बार, "मांजी, आप भी तो औरत हैं···!" सीता जाने कब तक रोती रही थी।

"बेटा क्या जना, बहूरानी तो जबान लड़ाना सीख गई···! आने दो गोवन्दा को, सारी हेकड़ी न झड़ा दी, तो मेरा नाम भी परमेसवरी नहीं···!" क्रोध से पैर पटकती सासजी कीर्तन में चली गई थीं, फिर लौटी ही नहीं···अचानक मन्दिर में ही दिल का दौरा पड़ा और वह शांत हो गई। सीता को लगा, उसके दिन सचमुच फिर गए हैं।

फिर सीता ने दो बेटे और जने, अर्थात् पूरी पांच सन्तानें—दो बेटियां, तीन बेटे। गोविन्द की सीमित आय में सात प्राणियों का सामान जुटाना बड़ा कष्टसाध्य था। किन्तु सीता स्वयं से कहती, 'अरे, उस दुलारी को भी तो देखो, जो मेहतरानी है, पूरे बारह बच्चों को ही नहीं, तेहरवें निखट्टू मरद को भी पाल रही है···मैं तो उससे बहुत अच्छी

हूं !' अग्नि-परीक्षा देती सीतावाले कैलेण्डर को क्यों देखती आई सीता अब दुलारी मेहतरानी को देखने लगी थी—चीथड़े लपेटे, बस्ती की गन्दगी साफ करती दुलारी…गधाती, मक्खियां भिनकाती-सी मेहतरानी दुलारी, अप्रकट में, अग्नि-परीक्षा देती सीता [illegible] कैलेण्डर के सामने [illegible] किसी देवी की प्रतिमा-सी जड़ गई थी…सीता केवल इतना [illegible] कि अब उसे कैलेण्डरवाली सीता से मेहतरानी दुलारी अधिक [illegible] लगने लगी है…

हां, इस बीच, अन्तहीन अंधेरी रातों जैसे स्याह अन्धकार के बीच सीता ने एक 'सपना' देखा था…'सपना'…मात्र एक [illegible] कुछ क्षणों का…एक भ्रम-सा…किन्तु अंधेरों के बीच [illegible] सा।

गोविन्द के दूर के रिश्ते का भाई श्याम, [illegible] भटकता आया, तो गोविन्द के घर टिक रहा।

सीता ने पाया, श्याम पांच बच्चों की [illegible] की होने आई सीता को, कभी-कभी कांखें [illegible] नज़रों से ! धीरे-धीरे श्याम सीता को [illegible] लगा…कहता कुछ नहीं, केवल दूर के [illegible] सभी गोटियां सँभसे अपलक देखता, [illegible] सीता को वे नज़रें रोमांचित करने [illegible] गलत है…!' सीता अपने [illegible] की प्रतीक्षा रहने लगी, जो [illegible] रेगिस्तान में फूल की तरह [illegible]—

तभी होली पड़ी। [illegible] के नशे में भंगी [illegible] कुछ मिठाई लिया !"

कांपती [illegible] पी कुछ भी तो [illegible] पर बनने भी [illegible] है !"

[illegible]

शायद भंग के नशे ने गोविन्द के होश पूरे उड़ा दिए थे। वैसे ठीक होश उन्हें रहता ही कब था ! उन्होंने झपटकर सीता के केश पकड़ लिए और तड़ातड़ थप्पड़ जड़ने लगे, "क्यों नहीं बनाई मिठाई ? बोल, क्यों नहीं बनाई···?"

अचानक अबीर-गुलाल से रंगा, रंगों से नहाया श्याम आगे बढ़ा। उसने गोविन्द को सीता से अलग करते जोर का धक्का दिया। गिरकर उठने का प्रयास करते गोविन्द को एक घूंसा जड़ दिया; "चलो भाभी उधर चलो···अब भैया कुछ देर उठ नहीं सकेंगे !"

सीता को बांहों में समेटे-सा श्याम कोठरी में ले आया, "कितना पीटा है इस राक्षस ने भाभी, तुम्हें ! यह इन्सान नहीं, जानवर है··· अगर कहीं तुम मुझे मिली होतीं···"

श्याम ने सीता को आलिंगनबद्ध कर लिया···सीता ने श्याम के चौड़े वक्ष पर सिर टेक दिया था···अपना जन्म भर ठोकरें खाता सिर, तिरस्कृत, अपमानित, निरन्तर प्रताड़ित सुकुमार सिर···! वे कुछ क्षण सीता को सपने जैसे लग रहे थे···! सीता ने सचमुच पलकें कसकर मूंद ली थीं···कहीं सपना टूट न जाए !

वह कुछ क्षणों का निर्दोष आलिंगन निर्दोष ही रहा आया···श्याम उससे आगे नहीं बढ़ा, केवल इतना और कहा, "ये आंखें हैं भाभी तुम्हारी, या आम की फांकें···! जानती हो, भाभी मुझे अमिया बहुत भाती हैं··· लेकिन अब कभी अमिया नहीं खा सकूंगा···तुम्हारी आंखें याद आ जाएंगी···!"

होश में आते ही गोविन्द दहाड़े, "निकल साले मेरे घर से ! अभी निकल···! सब समझता हूं, भौजाई से आसनाई चल रही है !"

जीवन में पहली और अन्तिम बार सीता ने जबान खोली, "क्यों दोष लगाते हो बेचारे को ! जैसे खुद हो, वैसा ही सबको समझते हो ! रोज पीकर, चमेली का गजरा कलाई में लपेटकर, किसी कोठे से लौटते हो, सो कुछ नहीं···मेरे लिए कभी चुटकी भर सिन्दूर भी लाए···?"

गोविन्द और जोर से दहाड़े, "सिन्दूर नहीं, तेरे लिए जूतियां लाऊंगा,

हरामजादी ! और थार लगाकर एक गिनूगा, ममझी···पहले इम तेरे आशिर से तो निबट लू !"

गोविन्द तपटे। सीता बीच में आ गई, "देखो जी, श्याम वैसे ही चला जाएगा, उसे हाथ लगाने की जरूरत नहीं ! और न आज से मैं तुम्हारे जूते खाऊंगी, यह भी समझ लो···! जाओ श्याम, अभी चले जाओ, भैया मेरे ! मेरी खातिर, इसी क्षण चले जाओ···!"

हतबुद्धि खड़े गोविन्द. और आंखें पोछते, सन्दूकची और बिस्तर समेटकर जाते श्याम के बीच सीता वैसी ही खड़ी रही। श्याम ने जाते-जाते झुककर सीता के पैर छू लिए···कुरते की आस्तीन से आखें पोछता तेजी से निकल गया। सीता चीखी, "अब तुम भी जाओ और किसी कोठे पर पूरी रात बिताकर आना···! मैं आज आधी रात को दरवाजा नहीं खोलूंगी···जाओ ! जाओ···!"

उस सारी रात सीता के आंसू बहते रहे···जाने क्यों···! मरुथल हो उठी सीता की आंखों में आंसुओं का इतना सागर जाने कहां से उमड़ पड़ा था ! सीता के पास न कोई प्रश्न था, न कोई उत्तर। हां, उसकी आम की फांकों जैसी आंखों में कुछ पलों के लिए धड़क उठा 'सपना' तुरन्त मर गया था। वह उस रात भर रोती रही, एक पल भी न सो सकी। सीता ने जब सवेरे दरवाजा पीटते पतिदेव के लिए दरवाजा खोला, तो दोनों की आंखें लाल थी—गोविन्द की नशे से, सीता की आंसुओं से···और शायद यही उन दोनों का 'सच' था···!

हां, उस दिन के बाद, सचमुच गोविन्द सीता से दबने लगे···गाली-गलौज करते, नशे में धुत वैसे ही रात को देर से घर लौटते, लेकिन सीता को हाथ नहीं लगाते, बिस्तर पर जरूर खींचते···लेकिन थप्पड़ नहीं जड़ते···या अब जड़ नहीं पाते थे।

और, उन कुछ इनी-गिनी घटनाओं के बाद सीता का जीवन एकदम सामान्य रहा आया, जैसे, समय के साथ वह एक बंधी, पिसी-पिटी लीक पर चलती रही ! सीता के लिए दिन-रात, अंधेरे-उजाले, सरदी-गरमी में कोई फर्क नहीं था। दिन उगता, डूब जाता। रात घिरती, कट जाती। दिन हफ्ते बनते गए, हफ्ते महीने, महीने

वर्ष···बच्चे बड़े होते गए। सीता तीस से पचपन की हो गई···आम की फांक जैसी एक आंख में मोतियाबिन्द उतर आया···स्याह केश सफेद हो गए।

विद्या और पद्मा ब्याह दी गईं। बाल-बच्चे वाली हो गईं। गोपाल और दामोदर भी बहू-बच्चों वाले हो गए। केवल केशव, सबसे छोटा, अभी अनब्याहा था। गोपाल और दामोदर की एक-एक आंख भेंगी थी, केशव बिल्कुल मां पर गया था। गोपाल तो ब्याह होते ही अलग हो गया, "हमारी कोई जिम्मेदारी नहीं! हम क्यों मरें तुम्हारे लिए?" गोपाल ने साफ-साफ कहा था।

उसकी बहू ने और भी साफ-साफ कहा, "भई, मैं तो अपने मां-बाप की इकलौती हूं, मुझसे किसीकी नहीं सही जाएगी···!"

विद्या और पद्मा विदा होते समय मां से लिपटकर रोई थीं, गोपाल तो अपनी भेंगी आंख मिचमिचाता चला गया···जाते-जाते लौटा, तो सिर्फ यह देखने के लिए कि कोई चीज छूट तो नहीं गई। काठ बनी सीता, पथराई आंखों से तांगे पर सामान लादते गोपाल, उसकी बहू और गोद के पोते को देखती रहीं···शिशु दादी की गोद में आने के लिए मचला भी था, किन्तु उसका अस्फुट क्रन्दन तांगे की खड़खड़ाहट में डूब गया। गोविन्द चीखते रह गए, "साला हरामजादा···! जात दिखा गया···अरे, ऐसी सन्तान से तो कुत्ता अच्छा···!" सीता ने कहना चाहा, 'आखिर बेटा किसका है!' किन्तु कहा नहीं, एक दीर्घ हाहाकार दबाती, उस दिन से और चुप हो गईं।

दामोदर अभी मां-बाप के साथ ही था। तनख्वाह इतनी नहीं थी कि अलग रह सकता और बच्चे हर साल पैदा हो रहे थे। दामोदर की बहू भी निर्धन परिवार से आई थी, अतः उनके बीच एक अनकहा समझौता था—सीधे-सादे स्वार्थ का! सीता समझकर भी अनसमझी-सी बनी रहतीं···'यही ठीक है, यही ठीक है···' वह अपने आपसे कहा करतीं, 'नहीं देखा जाता, तो आंखें मूंद लो। नहीं सुना जाता, तो कान बन्द कर लो। नहीं जिया जाता, तो मर जाओ···! किन्तु मैं ज़िन्दा ही कहां हूं, जो मर जाऊं···!' सीता अपने आपसे कहतीं, 'और अब तो सचमुच दिन

भी पूरे होने को आए···जाने कब वह घड़ी आ जाए···! कब आएगी वह घड़ी···कब आएगी···! थकी-हारी सीता के जर्जरित रोम-रोम ने एक कराह उठती। उस कराह में कोई कामना नहीं थी, बस, एक प्रतीक्षा थी···एक तड़पती प्रतीक्षा, उस कराह के शान्त हो जाने की। उनके गोविन्द जीवित हैं, वह बेटी-बेटे वाली हैं, नाती-पोते वाली भी, उनकी मांग में सिन्दूर है, घर-आंगन भरा-भरा है···और क्या चाहिए? हां, और क्या चाहिए···? इतना भी कितनों को मिलता है? सीता सोचती। पता नहीं, दुलारी मेहनरानी कहां चली गई, मर-खप गई शायद···और वह अग्नि-परीक्षा वाला सीता का कैलेण्डर भी जाने कब का फट-फटा चुका, किन्तु वह अभी शेष हैं! हे परभू, कब यह चोला टूटेगा···कब···कब···? सीता का जीवन भर का संचित हाहाकार एक 'कब' में केन्द्रित होकर रह गया था···किन्तु यह 'कब' भी मौन था, निश्शब्द।

•

संकट चौथ का व्रत था। पद्मा आई हुई थी। दामोदर की बहू, पद्मा और सीता, तीनों को ही व्रत रखना था। सीता जीवन भर सुहाग के सारे व्रत रखती आई थी···बस, रखती आई थी···वैसे ही, जैसे पति के साथ सोती आई थी···बच्चे जनती, पालती-पोसती आई थी···दो कोठरियों-वाले घर में चक्करघिन्नी-सी नाचती आई थी···अब तो पैर थक ही नहीं, टूट चले थे।

उस दिन उन्हें ज्वर चढ़ आया था। ताप से देह, प्यास से होंठ और किसी अनकही अगन से प्राण तप रहे थे। किन्तु 'शास्त्रों' के अनुसार सुहाग व्रत में पानी पीना निषिद्ध होता है। सीता ने लाख रोका, किन्तु दाह असह्य हो उठी थी। वे चोरी से लड़खड़ाती उठीं। मटके से लोटा भर पानी निकालकर पी रही थीं कि दामोदर की बहू ने देख लिया, "राम-राम, अम्माजी! आपने वरत खण्डित कर दिया! पाप नहीं लगेगा···?" सीता ने देखा, बहू के साथ पद्मा, उनकी बेटी भी उन्हें लांछना से, तिरस्कार से देख रही थी।

चांद के निकलते-निकलते रात के दस बज चले थे। घर में छत नहीं थी, अतः चांद तभी दिखाई पड़ सकता था, जब काफी ऊपर चढ़ जाता।

बेटी और बहू के साथ सीता ने चांद को देखा, अर्घ्य चढ़ाया, प्रार्थना में आंखें मूंदी, 'हे भगवान्, परभू अन्तर्यामी ! अगर फिर जनम देना, तो···तो और चाहे कुछ न देना, लाख दुःख फिर कर्म में लिख देना, बस, श्याम को बना देना···अगले जनम में श्याम को पति रूप में मांगती हूं, बस···!' एक पाप-बोध से जबान दांतों-तले दबाती, किन्तु साथ-ही-साथ मन-ही-मन यह दुहराती सीता अचेत होकर लुढ़क गई थीं···शास्त्रों के अनुसार उन्होंने पर-पुरुष को मांगकर भयानक पाप किया था न···! दिन में चोरी से पानी पीती, बेटी और बहू की उन्हें देखती, जलती, तिरस्कृत, शतगुनी हो उठी दृष्टियों के बीच, सीता की पचपन वर्षीया अचेत होती चेतना में केवल एक मुख स्पष्ट उभर रहा था—अगले जनम की एकमात्र कामना का—श्याम का !

नाइन ने उलट-पलट कर हाथ-पैर देखे, हर अंग सांचे में ढला-सा, फूलों से बना-सा !

नाइन ने उसे चूमा, छाती से लगा लिया, 'अरे भगवान, हे राम ! ये घूरे पर गुलाब काहे खिला दिया ! इसका जीना मुस्किल हो जावैगा। सब तेरी मरजी !'

बच्ची को छाती से चिपटाए नाइन बाहर आई, जहां नशे में धुत उसका बाप, चित्त पड़ा था। नाइन चीखकर बोली, "ओ, ओ रे बनवारी ! देख तो तेरे घर में देवी जनमी है रे !"

बनवारी ने नशे से लाल आंखें तरेरकर खोलीं। दहाड़ा, "क्या कहा, फिर लौंडिया जन दी साली ने !"

नाइन भी चीखी, "अरे अभागे, जोरू को साली कहता है ! इस नन्हीं जान को कोस रहा है ! अरे आखिर तो ये तेरी बेटी है···और वो भीतर बेहोस पड़ी तेरे ही कारण तो बार-बार दरद झेलती है···कौन-सा सुख दिया तूने उस अभागी को और कोई होती तो तेरे मुंह पर थूककर चली जाती, लेकिन भागवती ने अपना धरम निभाया···तेरे लात-जूते खाए, भूख-प्यास सही···कूट-पीस कर अपना ही नहीं, तेरा गढ़ा भी भरती रही। चाहती तो किसी और का हाथ पकड़ सकती थी···कम रूप नहीं था भागवती के पास ! अरे, ब्याहकर आई थी, तो रूप छम-छम बरसता था···और कौन थी इस गांव में उसके बराबर की ! लेकिन तूने क्या गत कर दी उसकी ? मार-मारकर अभागी की सारी देह पर दाग-ही-दाग कर दिए···अब बेटी जनना, न जनना क्या उसके बस की बात है ! अरे निर्दयी, तुझे तो जमराज भी छमा नहीं करेगा ! लेकिन देख तो, इस बार कौन जनमी है तेरे घर में ! देख रे अभागे ! कभी देखा है इत्ता रूप ! अरे गुलाब की कली है। हीरे की कनी है। चन्दा की जोत है रे ! देख तो !"

बनवारी के कुछ समझ में आया, कुछ नहीं आया। लाल आंखें फाड़-कर बोला, "ला दिखा, कौन लछमी जनमी है !"

नाइन ने वक्ष से चिपकी बच्ची को भरे हाथ फैला दिए···। बनवारी ने जेब से माचिस निकाली, तीली जलाई, बच्ची पर झुककर तीली घुमाता

बड़बड़ाने लगा, "अरे सच्चई ! नाइन मौसी, बिटौनी है तो सच्चई खपसूरत ! चन्दा की जोत अस···! नाइन मौसी, ला दे ! इसी खुशी में कुछ दे दे तो थोड़ी और चढा आऊं ··तेरा सारा हिसाब पाई-पाई चुका दूगा·· मुझे अपनी सौंह ! बस एक अठन्नी दे दे।"

नाइन की आंखों में आंसू छलछला आए— सांझ के झुटपुटे में उन आंसुओं को देख पाना मुश्किल था। वैसे भी बनवारी को किसीके भी आंसू कहां दिख पाते थे ? ···उसकी नशे में डूबी लाल आंखों में तो केवल और नशे का पागलपन भरा रहता था·· मुंह से दुर्गन्ध के साथ गालियां फूटती होती थीं···गांव में हर किसीके सामने वह अपनी कसम खाता हाथ फैलाता होता था···और जब कुछ न मिलता तो घर पहुंचकर भागवती को मारता-पीटता, नोंचता-खसोटता, 'मुझे जोरू नहीं दारू चाहिए··· दारू···जोरू नहीं, दारू, वाह क्या तुक बैठी है···जोरू और दारू की !'

नाइन ने बच्ची को धरती पर रखकर, पूरा एक रुपया अंटी से निकाला। बच्ची पर घुमाकर वारती, बनवारी के मुंह पर दे मारा, "जा रे!नीच! जा और पी ! जित्ता पिया जाए पी···तू आदमी नहीं, राच्छस है रे ! छोड़ दे इस बच्ची और इसकी मां को मरने दे।"

बनवारी ने रुपया उठा लिया, "नाइन मौसी, आज तो तुमने तबीयत खुश कर दी। पूरे सौ साल जिओगी तुम ! सच्चई, बिटौनी लछमी है साइत, वरना पूरा एक रुपया तो बनवारी की हथेली पै किसीने कब्बी रक्खा ही नहीं। बड़ा अरमान था जी भरकर चढाने का। आज जी की निकल जाएगी।" बनवारी रुपया सिर से छुआता बढा, लौटा, "नाइन मौसी ! ई बिटिया तो इत्ती खपसूरत है कि बड़ी होकर चन्दा-जैसी हो जाएगी, है न ! फिर इस चन्दा की जोत से इसके बाप के मारे अंधेरे दूर हो जाएंगे, है न !"

उस 'है न !' का अर्थ समझती नाइन स्तब्ध रह गई। बनवारी "है न ! है न !" दुहराता चला गया था···।

बच्ची को हथेलियों में उठाए, निर्निमेष निहारती नाइन का आंसुओं से भीगने लगा था, 'काहे इत्ता रूप ले आई अभागी। ई तेरा, अभी से तेरा जुगाड़ बैठाय रहा है। ई रूप तेरा दुसमन न हो ज,

हे परभू ! औरत जात को कैसेऊ चैन नाहीं ! रूप न होय तो मुसकिल, रूप होय तो और मुसकिल ! भगवान तेरी रच्छा करें !'

नाइन ने भीतर जाकर देखा, भागवती अभी भी अचेत थी। आंवल निकल गया था, 'चलूं, वैदराज से कुछ दवा ला दूं, अभागी के लिए ! साइत बच जाए···' नाइन ने अंटी फिर टटोली। एक रुपया और था। पाव भर गरम दूध और वैद्यराज से दवा···बच्ची को अचेत मां के पार्श्व में लिटाकर, वृद्धा नाइन आंखें पोंछती दौड़ पड़ी थी, दरवाज़े की सांकल बाहर से चढ़ाती गई थी।

भागवती को जब होश आया, तब दिन चढ़ आया था—कोठरी में भरपूर उजाला था। बाहर दिन बहुत उजला था, शायद। उसने पार्श्व में पड़े, फटे चीथड़े के एक टुकड़े में लिपटे उस मांस के लोथड़े को देखा—जिसकी नन्हीं-नन्हीं पलकें मुंदी थीं···मुट्ठियां कसी थीं···और हल्की-हल्की सांसें चल रही थीं।

भागवती ने और कुछ देखने के पहले उस शिशु देह से वह चीथड़ा भी उघाड़कर देखा, 'नर है या···।' भागवती जानना चाहती थी। फिर चीथड़े को ठीक से लपेटती रो पड़ी, 'हे परमेसर ! एक अभागिन की कोख में फिर अभागिन ही धर दी! क्या तुझे भी मुझ पर कभी दया नहीं आई···तू तो अन्तरजामी है परभू···! बता न, कौन-से पाप किए मैंने, जो इत्ती-इत्ती बड़ी सज़ा मिल रही है···जिन्नगी ऐसे ही तो कटी है··· पल भर भी चैन मिला है···? अब क्या मिलेगा ? काहे न इस अभागी को भी छाती से बांधकर नदियां में कूद पड़ूं···? जाने कित्ती तो इसी गांव की कूदी है ! फिर भी क्या नदिया ने बहना रोका है ? कभी-कभी तो किसीको पता भी नहीं चलता कि कोई डूब मरी या भाग-भूग गई ! मुझे तो मरने के बाद भी दोख लगाने से नहीं चूकेंगे निरदई ! ज़रूर यही कहेंगे, सबसे पहले तो इसका बाप ही चीख-पुकार मचावैगा, आखिर भाग गई न बदजात छिनाल !'

भागवती की आंखों में आंसू बह निकले थे—प्रसव वेदना से अधिक किसी अनाम पीड़ा के कारण। जिसे प्राय: महलों से झोपड़ियों तक नारी

किसी-न-किसी रूप में झेलती रही है—कभी चीत्कार करती, कभी बिल्कुल चुप ! नारी की देह से लेकर आत्मा तक, जाने कितनी चोटों के नीले दाग होते हैं ! और जो नारी-तन या मन जितना ही 'उजला' होता है, उसपर 'दाग' भी उतने ही गहरे नीले उभरते हैं ! भागवती गहरी निःश्वास लेकर चुप हो गई।

'अरे, ई मिट्टी के देह के कारन हम काहे पाप करें !' भागवती सोचती रही।

सचमुच कम रूप न था स्वयं भागवती के पास ! जब ब्याहकर आई थी, तो मेहदी रंगी हथेलियों और महावर-रंजित पैरों की लुनाई ही, मुख उघाड़ कर देखने के पहले ही, देखनेवाली नज़रों को बाँध-बाँध लेती थी। और मोटी-फोटी लाल चूनर उघाड़कर देखने के पश्चात तो उसी नाइन मौसी ने माथा ठोक लिया था, मन ही मन रो पड़ी थी, 'हे परभू ! हम कसाई के हाथ ई फूलकुमारी काहे दे दी ! निगोड़ा पखुरी-पंखुरी नोच डालैगा।'

बनवारी उस रात भी ठर्रा चढ़ाकर आया था। भागवती का घूंघट खींच कर उघाड़ा था, "अरी बाप रे ! ई हमार दुल्हन तो सच्चई ऊ रानी रंडी से जियादा खपसूरत है···! मुदा अब हम काहे उसके दरवज्जे जावेंगे ! आओ रानी आओ, डरो ना···!" बनवारी ने भागवती को दबोच लिया था। दूसरे दिन सवेरे भागवती का पोर-पोर दुख रहा था—देह का ही नहीं, मन का भी सन्ताप था। पन्द्रह बरस की अनाथ भागवती को, पन्द्रह सौ रुपये में काका-काकी ने बनवारी से ब्याह दिया था और वह कसाई की रस्सी से बंधी गाय की तरह बनवारी के पीछे-पीछे घिसटती चली आई थी। रास्ते में एक-दो बार थकान के कारण कदम शिथिल पड़े तो बनवारी दहाड़ा था, "साली नाज़ुक बन रही है रानी रंडी की तरह ! अरे, उसका तेरा क्या मुकाबला ! चल कदम बढ़ा···दो कोस नहीं चला जाता तो क्या मोटर चढ़ेगी ! अरे, मोटर तो रानी ही चढ़ सकत है। पतली कमर लचकाकर जब गावत है, 'आज बरस जा मोरे अंगना मे सैयां सारी रैन रह जाए !'···तो साला बनवारी क्या, बनवारी का सेठ

भी होस खो देता है ! लेकिन वो है ईमानवाली ! सेठ से कम खातिर ई बनवारी की ना करत है। अरे ! ऊ बुढ़वा सेठ के पास तो मुंह में एकौ दांत नाहीं असली, परन्तु बनवारी की जवानी तो असली है···!"

सांझ होते, जब बनवारी के साथ भागवती ने उस छोटे से गांव की सीमा में पैर रखा तब वह कराहती हुई धम् से बैठ गई। महावररंजित पैरों में कोई कांटा गड़ गया था !

"काहे ! का भवा महारानी जी ! अरे ! कांटा गड़ गवा, लाओ निकाल दें।" बनवारी ने बढ़े तीखे नाखूनों से खींचकर कांटा निकाला और उन्हीं नाखूनों से भागवती के अछूते वक्ष पर पहला क्षत अंकित कर दिया···।

भागवती की मछलियों-जैसी आंखों में आंसू डबडबा आए। कांटा निकल गया था, या जिसके साथ जिन्दगी काटनी थी, उसके पशु जैसे नाखूनों का कांटा तन से मन तक को कहीं बड़ी बेरहमी से काट गया था !

'हे भगवान,' कहती अबोध भागवती ने मुंह में आंचल ठूंस लिया कि सिसकियों को कण्ठ में रोक ले। बनवारी शिकारी-जैसी हिंसक दृष्टि से उसे घूर रहा था। सहमकर वह उठी, बनवारी के पैरों में लोट गई, "कोई गलती होय जाए तो छिमा कर देना···हमरा कोऊ नाहीं तुमारे सिवा—कोऊ नाहीं···!" भागवती फूट-फूट कर रो पड़ी थी।

"चल, चल, कर दिया छिमा ! टेसू बहाना बन्दकर, देख, सब आय रही है, अब होस संभाल !"

तब तक शोर मचाता औरतों-बच्चों का एक झुण्ड आ गया था। नाइन ने हाथ पकड़कर भागवती को उठाया था। लड़खड़ाती कदमों से भागवती भी उठ खड़ी हुई थी। किसी अनकही व्यथा और प्रार्थना से उसके पतले होंठ थरथरा रहे थे।

फिर बनवारी के आगे बकरी-सी मिमियाती भागवती ने शीघ्र ही सिंहनी-सी दहाड़ना सीख लिया।

बनवारी का सेठ मर गया तो वह नौकरी छोड़-छाड़कर गांव चला

आया। नौकरी छोडी, रानी रंडी भी छूट गई। लेकिन दारू छूटी नहीं, और बढ गई। हां, बनवारी ने होश मे रहना ही छोड़ दिया।

भागवती हर दूसरे-तीसरे वर्ष मातृत्व की यत्रणा सहती रही। कभी बच्चा मरा पैदा होता कभी पैदा होकर मर जाता। भागवती का नारी रूप रौंदा जा चुका था। देह शिथिल होकर धीरे-धीरे पयराने-सी लगी थी। किन्तु छह सन्तानों को जनम देकर भी भागवती के वक्ष का उभार ढला नहीं" हां, उन मछलियों-जैसी आखो मे एक उन्माद-सा उभरने लगा —'एक जल बिच मीन पियासी'—जैसा प्यासा उन्माद।

पंसारी से उधार आटा-दाल लेने गई थी। सुना, उसने थैले में अनाज भरते-भरते भागवती की बाई कलाई पकडी ही थी कि भागवती ने दाए हाथ से तराजू का सेर भर का बट्टा उठाकर पसारी की खोपड़ी पर दे मारा, और इतमीनान से थैला उठाकर चली आई। लाला कई दिन पट्टी बांधे कराहता रहा। भागवती ने भी नकद या उधार, उसी लाला से सौदा लेना नहीं छोड़ा। बाट दे मारने की बात भी छिपी न रही। लोग-बाग कहने लगे, "लगता है, ई के सिर पर कोई देवी, आवत है! देखत नाही, आखन मे कैसी जोत-सी जाग उठत है! लेकिन बाप रे! दूर ही रहियो भाई! कौन जाने पागल ही होय गई हो!"

नौकरी छोड़कर रात-दिन दारू के नशे में चूर बनवारी को, भागवती चाहे जैसे दो वक्त भर पेट रोटी खिला देती। गाली का जवाब गाली से देती और पाशविक बल के प्रयोग के बाद ही बनवारी उसे दबोच पाता।

भागवती गाव के खेतो में काम करती। साग-भाजी बोकर पास के गांवों में बेच आती। चक्की में सेरो अनाज दल देती। गाव के घरो की ब्याह-शादी में जी-तोड़कर हाथ बटाती और ब्याह के दिन ढोलक पर थाप देती, मेहदी-महावर, काजल रचाकर सुरीले स्वर मे मगन होकर जरूर गाती, 'मेरी बन्नो चन्दा की जोत, बन्ना सूरज-सा…!' भागवती का सुरीला स्वर ढोलक की थाप के साथ झकृत होता, सुननेवालों को म मुग्ध कर जाता!

फिर उस ब्याहवाली रात बनवारी से अलग सोई पड़ी भाग

रात भर जागती होती और उसकी आंखों में वाढ़ आ जाती। भागवती के सुरीले स्वर के एवज में बनवारी को उस रात जी भरकर दारू मिल जाती, अतः आंखों की वाढ़ में डूबती-उतराती भागवती को उस रात जी भरकर रोने की फुरसत होती।

सवेरे बनवारी और भागवती दोनों की आंखें एक जैसी सुर्ख लाल होतीं, "क्यों री क्या तूने भी चढ़ाई थी ?" बनवारी लाल-लाल आंखों में घूरता कहता।

"हां चढ़ाई थी, तेरे बाप का इजारा है क्या !" बनवारी मारने झपटता तो वह उसे ढकेल देती, "तेरे उतरी नहीं ! पड़कर सो रह ! तेरा ही गढ़ा भरने का इन्तजाम करने जाए रही हूं, नासपीटे !"

"ठैर तो कमीनी।" बनवारी फिर झपटता तो भागवती लपककर दरवाजे की सांकल बाहर से चढ़ा देती। फिर देर तक गांव के पोखर में नहाती रहती, जब तक तन-मन में जलती अगन कुछ ठंडी नहीं पड़ जाती। फिर दो-चार घण्टे किसी पेड़ की छांह में पड़कर सो जाती। उठती, तो आंखों का रंग फिर सुर्ख से उजला हो उठता, किन्तु वह उजलापन बहुत उदास होता, बहुत सूना।

तभी गांव में डाकखाना खुला, तो एक शहर का बाबू पोस्टमास्टर हो कर गांव आया। गांव में सनसनी फैल गई—'बिजुली न सही, चिट्ठी-पत्री तो आवैं-जावैं लगैंगी।' कहते लोग-बाग बहुत खुश थे।

पोस्टमास्टर, बाबू टिकटघर की खिड़की पर बैठा-बैठा अखबार पढ़ता रहता। टिकट, रसीद, चिट्ठी-पत्री का हिसाब देखता रहता और मुछन्दर डाकिया शिवराम गांव की डाक बांट आता। शिवराम, बाबू का और अपना खाना बना लेता। उसी एक कोठरी के पोस्ट आफिस व घर में शिवराम नाक बजाता सो जाता। बाबू रात गए तक पढ़ता रहता—प्रायः शरत्चन्द्र को। बाबू का नाम भी था—श्रीकान्त। घुंघराले बाल, चौड़ा माथा, बड़ी-बड़ी संवेदित आंखों में किसी चोटों के अहसास का दर्द-सा। और उम्र तीस के लगभग—जैसे शरत् का ही कोई कथा-नायक हो !

वह पोखर डाकखाने की कोठरी के पिछवाड़े था, जहां भागवती

घण्टों नहाती थी। और फिर किसी पेड़ की [illegible]
'हे परभू !' कहती, दीर्घ निश्वास लेती, [illegible]
सूनी-सूनी उजली आंखें फैलाकर धरती-[illegible]
उठ खड़ी होती। टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों में से किसी ओर [illegible]

श्रीकान्त ने उसे कई बार ऐसी स्थितियों में [illegible]
उन कान तक खिंची खंजन-सी आंखों में एक [illegible]
भागवती की घनी रेशमी-झालर-सी पलकें [illegible]
पर फड़फड़ाती, तो लगता वे आंखों के खंजन [illegible]
हैं, किन्तु कहां, कैसे, किस दिशा की ओर ! [illegible]
अपनी दिशा का पता भी कहां था !

शरत् की नायिकाओं में डूबे श्रीकान्त को [illegible]
एक सजीव नायिका शरत् के उपन्यासों के पृष्ठों से [illegible]
कमल-सी मुंदी आंखें लिए पोखर में नहा रही है। एक [illegible]
गीली ही पहनकर, पेड़ की छांह में अचेत-सी पड़ी [illegible]
साड़ी-अंगिया में उन्नत वक्ष गहरी सांसों के साथ [illegible]
नागिन से डोलते केश धूल में बिखरे होते। [illegible]
जाते। श्रीकान्त प्रतीक्षा करता कि कब वे [illegible]
होकर खुलेंगी ? कब उनमें पीड़ा की [illegible]
सी वे झिलमिलाएंगी ? कब उन [illegible]
कब वे गुलाबी एड़ियां फिर [illegible]
विलीन हो जाएंगी। श्रीकान्त ने [illegible]
अब वह भागवती को पढ़ने [illegible]।

"शिवराम, कौन है यह [illegible]
दिखाकर पूछा।

"अरे [illegible]
ही [illegible]
[illegible]
हां, हां, [illegible]
[illegible]

सती-सतवन्ती है ई भागवन्ती ! अरे कुछ ऐसन ही नाम है साइत !"

फिर शिवराम मूंछों में हंसा, "काहे बाबू, बुलाय देई ? अरे, किताब से मन बहलावे से तो ई परी अच्छी है। देखो, साइत तुम पर ढर जाए!"

श्रीकान्त भी हंस पड़ा, "हां दादा ! किताब की परियों से तो जीती-जागती मछली-सी आंखोंवाली यह परी सचमुच अच्छी है। बुला दो।"

"सुनो ! तुम्हें खाना बनाना आता है ?" श्रीकान्त भागवती से पूछ रहा था।

"काहे बाबू, तुम्हारा दिमाग खराब है का ? औरत जात हम खाना ना बनावेंगी तो का तुमरी तरह पोस्टमास्टरी करेंगी···? बोलो का खाओगे ? बंगाली हो ना ? मांछी-भात रांध देई ?"

'हां, हां, बिलकुल मांछी-भात ! तुमने तो मेरे मन की बात समझ ली ! कब से मछली का झोल नहीं खाया। आज ही बना दो ना !" मृदुता से कहते श्रीकान्त ने देखा, भागवती के मुख पर जड़ी मछलियों-सी आंखें सहसा डबडबा आई थीं। भागवती, उन मछलियों-सी डबडबाती, निर्दोष आंखों से, अपलक श्रीकान्त को देख रही थी।

"क्यों, क्या हुआ ? तुम रोने क्यों लगीं ?" श्रीकान्त ने पूछा।

"याद नाहीं, कब से ऐसा मीठा बोल नाहीं सुना बाबू, जैसे तुम बोल रहे हो !"

और भागवती के कपोल झरते आंसुओं से भींगने लगे। श्रीकान्त की धड़कनें भी उन आंसुओं से भीग गई थीं, पर वह निश्शब्द बना रहा।

भागवती श्रीकान्त का खाना बनाने लगी। बरतन मांजकर आईने-से चमका देती। कमरा झाड़-बुहार देती, पलंग की चादर पर एक सिलवट न होती और हर सांझ लालटेन जलाकर रखने के साथ, एक अगरबत्ती भी जला जाती। श्रीकान्त रात देर तक लालटेन की रोशनी के साथ, अगरबत्ती की गन्ध को आंखों में भरता रहता।

भागवती को लगने लगा था, अब जिन्दगी श्रीकान्त के कारण असह्य नहीं सह्य हो उठी है। वर्ना जीवन की अन्य निर्ममताओं में कोई अन्तर नहीं आया था। किन्तु श्रीकान्त मांछी-भात रांधती भागवती को देखता, भागवती की आंखों की मछलियों को निर्निमेष देखने

लगा था—अवश-सा !

हां, इस बार भागवती की वह 'चन्दा की जोत'-सी बिटिया जी गई थी। धीरे-धीरे तीन वर्ष की हो चली थी और फटे-मैले कपड़ों में, उसके धूल-धूसरित मुख पर सचमुच इतनी लुनाई थी कि लोग-बाग कहते "सच-मुच तेरी बिटोनी चन्दा की जोत है भागवती।" भागवती ने उसका नाम चन्दा ही रख भी दिया था।

भागवती को श्रीकान्त के यहां काम करते लगभग एक वर्ष बीत गया था। श्रीकान्त ऊपर से शान्त रहा आया किन्तु भीतर कोई अलोड़न धीरे-धीरे प्रबल होता गया। भागवती का सम्मोहन, भागवती की पीड़ा, उसके वस की कगार पर, प्रबल लहरों-सी टक्करें मारने लगी थी।

भागवती दो दिन काम पर नहीं आई। तीसरे दिन आई तो कराह दबाती धीरे-धीरे काम करने लगी। श्रीकान्त ने देखा—भागवती का दाया हाथ जख्मी था—पट्टी बंधी हुई।

"क्या हुआ भागवती, यह पट्टी कैसी ?" श्रीकान्त ने पूछा।

"कुछ नहीं बाबू, हमारे फूटे करम और का ? उस नासपीटे, चन्दा के बाप को दारू के लिए पैसे नाही दिए तो मुए ने चिमटा उठायकर हाथ पर दे मारा। चूड़ियां टूट-टाट गईं, एकाध टुकड़ा धस गया, सो पट्टी बंधवानी पड़ी···! अरे, ठीक हो जावेगा बाबू, आप फिकर नाही करो, ई तो हमार भाग है। कौनो नई बात है का ? अरे, मुआ चिमटा माथे पर दे मारता तो हमार छुट्टी होय जाती। लेकिन नाही, हमका मांगे मौत भी नाही मिलेगी, बाबू।" भागवती फूट-फूटकर रोने लगी थी।

सहसा श्रीकान्त उठा, रोती भागवती के आंसू पोंछे, उसके जख्मी हाथ को दोनों हाथों से कसकर पकड़ लिया, "भागवती, तुम उस जानवर को छोड़ क्यों नहीं देती ? क्यों अपनी इतनी दुर्गत करा रही हो ?"

श्रीकान्त के भागवती के जख्मी हाथ को थामे हाथ, थरथराने लगे थे, "तुम चाहो, तो बनवारी को छोड़कर मेरे साथ रह सकती हो—मेरी बनकर ! वादा करता हूं तुमको और चन्दा को कभी नहीं छोड़ूंगा··· हां, वादा करता हूं···ईश्वर की सौगन्ध खाता हूं···।"

किन्तु भागवती की आंखें, ओंठ और श्रीकान्त के हाथ

—सब निश्चल होकर रह गए थे। श्रीकान्त के शब्द सुनती वह गूंगी हो उठी थी——जैसे होश खो गए हों! उसकी दृष्टि में अवाकता उभर आई थी।

"बोलो, बोलती क्यों नहीं?"···श्रीकान्त का स्वर थरथराने लगा था।

किन्तु भागवती और श्रीकान्त के बीच समय काफी देर निश्चल-सा ठहरा रहा···श्रीकान्त ने भागवती की हथेली पर अपने होंठ रख दिए।

भागवती ने अपनी हथेली खींच ली। उसकी आंखें, स्वर सब झर-झर झरते आंसुओं से भीगने लगे थे, "नाहीं बाबू! हम ई पाप नाहीं कर सकत! कबहूं नाहीं! मुआ जिनावर है चन्दा का बाप, सच्च ई जिनावर! लेकिन हम ऊ का छोड़ देवे तो महीना भर भी नाहीं जीएगा। अरे, पागल हो जाएगा दारू के बिना, नीच कूकर की मौत मरैगा···। लेकिन ऊ का धरम ऊ के साथ, हमार धरम हमारे साथ। ऊ पापी जो चाहे करै, हम तो मरै लाग ऊ का नाहीं छोड़ सकत।" भागवती थरथराए अस्फुट स्वर में कह रही थी।

"होश में आओ भागवती! यह सब पाप-पुण्य, धरम-करम की बातें बेकार हैं। सुनो, शास्त्र भी शराबी, अत्याचारी पति को छोड़ देने की आज्ञा देते हैं, तुम पंचायत बुलाकर बनवारी को छोड़ दो···तुम्हारी जात में तो ऐसा होता भी है! और फिर चलो मेरे साथ—मेरी जिन्दगी बनकर।" श्रीकान्त ने भागवती को आलिंगन में भरना चाहा, पर भागवती तड़पकर छिटक गई, "ना, बाबा ना। ई सब हमार समझ में नाहीं आवत ···हमसे नाइ होय सकत। हम तो मूरख तिरिया हैं, जब तक जिन्नगी है, ऐसन ही काट लेव, फिर तो ई माटी की काया का माटी में ही···" भागवती ने अपनी देह की ओर इंगित किया और उठने लगी।

श्रीकान्त ने उसे फिर निकट खींचा, "नहीं भागवती, तुम्हारी काया कंचन की है, इसे ऐसे नष्ट मत करो। तुम्हारा मन भी सोने-सा है, मैं तुम्हारी इज्जत करता हूं। मेरा विश्वास करो। तुम एक बरस से मेरे पास काम कर रही हो, क्या कभी मैंने तुम्हारे साथ कोई गलत काम किया?"

भागवती ने अपनी हथेली श्रीकान्त के होंठों पर रख दी, "अरे बाबू, तुम्हरे अस देवता को हम कछू नाहीं देगा ! ऐसा न बोलो... बस हमका छिमा कर देओ। हमरा हमार हाथ पर छोड़ देओ बाबू ! हमको हिन्न ही मन-मन जाय देओ बाबू, तुम्हरे अस देवता के जोग नाही... हम तो कसाइन के ही जोग है...।"

भागवती ने स्वयं को हृदय से, श्रीकान्त के पास से मुक्त कर लिया, "आज जितनी बात हुई बाबू, बस मन ई हाथ ठीक हो जाई, तब फिर जो कहोगे, बनाव किया करेंगे...।"

"नहीं, अब आज तुम जाओ, आराम करो। आज मैं भी कम सोऊँगा, मुझे कुछ नहीं।" श्रीकान्त का कण्ठ रुंध गया था। भागवती ने चुपचाप लालटेन जलाई, एक नहीं, दो अगरबत्ती सुलगाई और श्रीकान्त के पैरों पर माथा टेककर चली गई—धीरे-धीरे अगरबत्ती-सी चुपचाप !

दूसरे दिन सवेरे गांव के लोग सब उमड़ा था। उसी दवाखाने के पिछवाड़े वाले पोखर में भागवती की लाश तैरता रही थी—तीन बरस की चन्दा को छाती से बंधी लाश के साथ। भागवती, चन्दा को छाती से बांध कर कूद गयी थी !

कसाई मामा चीखता, छटपटाता जा रहा था, "अरे सतुरी, कुछ खाके तो मरी, मेरी बिटोनी चन्दा को काहे मार गई ! उसे तो छोड़ जाती। अरे, मेरी चन्दा को जोर अब बिटिया को काहे ले गई कलमुंही...! अरे, हम जानत हो वंदे, ई कुछ ले...!"

गांव-जवारवे कसाई को देखके, जातवारे सहानुभूति से 'च्-च्' करते, कहते रहे कि, "अरे, सारा ठीक हो, है तो बाप ! देखो, कैसा-कला रहा है बिटिया के लिए...।"

तभी एक अप्रत्याशित बात कि गांव-जवारवे कसाई को कारन बोली ने एक-एक उत्तर दे डाला। बस दूसरा उठा रही थी कि लोगों ने उसे पकड़ लिया। किसी की समझ में नहीं आया कि भागवती की लाश को देख कसाई को उन्माद हो गया है ? लोगों ने जोर से दुत्कार कहा रहा था, "अरे, ई कौन अलबलिया रान्डा ! उस

'चन्दा की जोत' अस बिटिया से अपने अंधियारे को दूर करनेवाला था न ! अच्छा हुआ, जो भागवती बिटिया को साथ लेय गई…"

एक भी आंसू बहाए बिना, बनवारी को जलती आंखों से देखती नाइन मौसी मूच्छित हो गई थी…।

"चन्दा की जोत !…चन्दा की जोत !…" मूच्छित नाइन मौसी अस्फुट स्वर में बार-बार कह रही थी।

उसके बाद इतना अप्रत्याशित और घटा की बनवारी नहीं, श्रीकांत पागल-सा हो गया था—और वह गांव-नौकरी सब छोड़कर कहां चला गया, कुछ पता नहीं चला '

स्वयं पोंछते देखा था। पिताजी को उनके आंसू पोंछते कभी नहीं देखा।

दो-दो वर्षों के अंतर पर हुई तीन वहनों के वाद, पांच वर्षों वाद मैं पैदा हुआ था, जव मां और पिताजी एक वेटा पाने की आशा खो चुके थे, इसीलिए मुझे पाकर मां निहाल हो गई थीं। "सुना, लड़का हुआ है भैयाजी इस वार तो···! पूरे पांच रुपये और साड़ी लूंगी खुशी के!" हमारे मुहल्ले के वच्चे जनानेवाली दाई ने कहा था।

और पिताजी गद्गद् हो उठे थे, "अरे, पांच क्या, दस ले लेना!"

फिर यह भी सुना कि पिताजी मुझे पाकर मूंछों पर अधिक ताव देते, मां को अधिक पीटने लगे थे, "अरे, तू क्या लड़का जनती···? तूने तो तीन-तीन वेटियां जनकर रख ही दी थीं मुझे तवाह करने के लिए! वेटा मेरी किस्मत से हुआ है। अव जरा जवान हो ले, कमाने लगे या खूब दहेज लेकर आनेवाली वहू ले आए, तो अपना वुढ़ापा चैन से कटेगा। जानती है, पूरे एक साल मंगल का जाप रखकर हनुमानजी से वेटा मांगा था मैंने, तव वेटा मिला है मुझे!"

जव तक पिताजी जीवित रहे, मैं उक्त कथन उनके होठों से वार-वार सुनता रहा। मां वह सव सुनतीं और चुप वनी रहतीं, जैसे वह सचमुच अपराधिनी हों। मैं जव नौ-दस वर्ष का हुआ, तो एक दिन सुवह थप्पड़ खाकर शाम को पिता के पैर दवाती मां से पूछा था, "मां तुम तो वावू के पैर के दर्द की इतनी फिकर करती हो, वे कभी तुम्हें इतने जोर से थप्पड़ मारने के वाद तुम्हारी चोट को पूछते भी हैं? थप्पड़ का दर्द तुम्हें भी तो होता है न मां!" मुझे याद है, पिताजी के हाथ का एक झापड़ मेरे जवड़े हिला देता था। पांचों उंगलियां गाल पर ऐसी साफ उभर आती थीं कि वे जिस वात को मना कर देते, उसे दुवारा करने की मेरी हिम्मत ही नहीं हो पाती थी।

मां ने मुझे खींचकर वक्ष से सटा लिया था। उनकी आंखों से झर-झर आंसू झरने लगे थे, जैसे जाने कव का रुका वांध तोड़कर कोई आलोड़न उमड़ पड़ा हो, "चोट का दर्द तो होता है वेटा···लेकिन क्या तेरे वावू इतना भी समझते हैं कि वे मुझे कितनी चोट देते रहे हैं? मारने-वाला भूल जाता है, चोट खानेवाला दर्द को कैसे भूल जाए? जाने दे

बेटा, मेरी तकदीर में यही था ! वैसे, तेरे बाबू इतने बुरे नहीं, जाने कितने तो इनसे भी ज्यादा राक्षस होते हैं !"

मैं मा की चोटों की, दर्द की उस व्याख्या को सुनकर उस अबोध उम्र में भी स्तब्ध होकर रह गया था। पिता से नफरत हो गई थी। बस, थप्पड़ के डर से उस नफरत को जाहिर नहीं होने देता था। मां पर बहुत प्यार आने लगा था। पिता 'राक्षस' और मा 'देवी' लगने लगी थी। और मैं चुपचाप हनुमानजी से प्रार्थना करने लगा था कि वह मां की चोटों की कोई कड़ी सजा बाबू को दें। शायद हनुमानजी ने सजा दी भी थी—पिताजी यौन रोग से ग्रस्त होकर, तड़प-तड़पकर, सड़कर मरे थे। उनकी चिता को आग देते मेरे एक प्रतिशोध की आग शांत हो गई थी। किन्तु मा, पिताजी के बाद अधिक नहीं जी सकी, जैसे वह उन चोटों की भी अभ्यस्त हो गई थी, जैसे कोई धीरे-धीरे विष का भी आदी हो जाता है और उस विष के प्रभाव से पहले जिंदा मरता रहता है, उसके अभाव में सचमुच मर जाता है। पिता के शव पर पछाड़ खाकर गिरतीं, अचेत होती मां का वह रूप मैं कभी नहीं भूल पाऊंगा, भूल ही नहीं सकता—दर्द की अद्भुत व्याख्या करनेवाली अपनी सीधी-सादी मा को, फिर चोटों के बदले में चुपचाप क्षमादान देनेवाली उस साधारण औरत को, जो मेरे लिए 'देवी' का एक मूर्त्त रूप होकर रह गई थी। कोई भी 'देवी' क्या मेरी मा से बड़ी हो सकती है ? मैं मन-ही-मन आज भी किसी पूजा की आवश्यकता के क्षणों में केवल मा का स्मरण कर लिया करता हूं, बस।

किंतु···क्या कहने चला था मैं और क्या कहे या सोचे जा रहा हूं। नहीं, ठीक ही कह रहा हूं, जिंदगी के दूर-दूर बिखरे टुकड़े अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे जुड़े होते हैं कि कभी प्रत्यक्ष स्थितियों या घटनाओं के वश बहुत कुछ बीते हुए, गुजरे हुए या यादों की कब्र में दफन कर दिए गए मुरदों को जगा देते हैं। ये मुरदे वक्ष में सहसा करवटें बदलने लगते हैं। अधिकतर ये स्थितियां चोटों या दर्द की ही होती हैं। एक सुख की स्थिति में चाहे सैंकड़ों भोगे सुख याद आए न आए, एक चोट और खाने पर

जाने कितने जख्म हरे हो जाते हैं ।

बस, ऐसे ही, आज जबसे तुमसे मिलकर लौटा हूं, अनायास मां की वे दर्दभरी सुधियां, वक्ष को चीरती-सी, करवटें बदलने लगी हैं। वैसे, मां से मिले दुख का और तुमसे मिले दर्द का कोई नाता नहीं है। किंतु मैंने कहा न, सुखों के टुकड़ों में नाते हों न हों, दर्द के टुकड़ों में एक अटूट नाता जरूर होता है। आदमी तृप्ति के क्षण भूल जाता है, किंतु 'प्यास' की क्षणों को भूलना असंभव है, अर्थात् दर्द को भुला पाना···दर्द शायद आदमी की वह सच्चाई भी होता है, जिसे झुठला पाना कठिन होता है ।

मैं तो एक बिल्कुल साधारण, सामान्य आदमी हूं। मुझ जैसे हजारों होंगे। किसी भी बात में मैं विशिष्ट नहीं। न कोई विशेषता मुझमें है, न कोई महत्त्वाकांक्षा ही कभी रही। नाम है मनोहर जोशी। निम्न मध्य-वर्ग परिवार में जन्मा। फिर साधारण स्थितियों में शैशव से यौवन की दहलीज पर कदम रखने तक कुछ भी तो असाधारण नहीं रहा। न पढ़ाई में या स्वभाव से तेज था, न दब्बू। बस समझ लीजिए कि जैसे मारपीट-कर बी० ए० तक परीक्षाओं में थर्ड या सेकेंड डिविज़न पाता रहा, वैसे ही जीवन में भी एवरेज रहा आया, यानी कि सामान्य ।

किंतु यौवन की दहलीज पर कदम रखते ही तुम पर नज़र पड़ी थी और गड़कर रह गई थी। कारण ? कारण भी शायद यही था कि तुम पहली लड़की थीं, जो स्वयं सामने आ खड़ी हुई थीं, वरना मुझमें तो इतना साहस भी नहीं था कि मैं किसीके सम्मुख जा खड़ा होता, यद्यपि मेरी शिराओं में भी यौवन का उष्ण रक्त प्रवाहित होने लगा था। नारी के प्रति प्रकृति-प्रदत्त सहज आकर्षण मेरे तन-मन में भी जाग उठा था। मैं छिपाकर सेक्स की किताबें पढ़ने लगा था। किन्तु वह सब तो ऐसा ही सहज था, जैसे हमें भूख लगती है, प्यास लगती है, या नींद आती है। मां पिताजी से कहने लगी थीं, "अब मनोहर के लिए लड़की देखो··· जल्दी से वह घर में आ जाएं, तो उसके हाथ मनोहर को सौंपकर मैं चैन से मर सकूंगी ।"

किंतु पिताजी कोई ऊंचा शिकार साध रहे थे कि चाहे उसके साथ

मुझे भी मारकर मेरी अच्छी कीमत वसूल कर सकें। वे साफ-साफ शब्दों में कहते, "लड़की चाहे जैसी भी हो, मुझे पच्चीस हज़ार चाहिए कि मेरा बुढ़ापा तो चैन से कटे ! पच्चीस हजार मिल जाएं, तो एक मकान खरीद लूँगा। उसके किराए के सहारे बाकी जिन्दगी जूते तो न चटकाने पड़ेंगे ! तुम मरो या जियो, मुझे तो ज़रा चैन से जीना है। तीन-तीन चुड़ैलों को जनकर तो तूने रख दिया था, उन्हें ठिकाने लगाते-लगाते मैं मर गया !"

मां फिर चुप हो जाती और मैं तो पिताजी के सम्मुख सदा से चुपचाप रहा ही आया था। बस, मन-ही-मन मनाता रहता कि पिताजी किसी प्रकार हमारे बीच से हट जाएं···मेरे और मां के बीच वे न रहें··· अर्थात् मैं उनकी मृत्यु की कामना किया करता था कि मां को कुछ दिन तो चैन से जीवित रख सकूं। और यही हुआ। वे सचमुच शायद मेरी प्रार्थनाओं के कारण ही, मां के पहले चले गए ··और इतना तड़प-तड़पकर मरे कि उनके प्रति प्रतिशोध की मेरे मन में धधकती आग उनकी चिता की आग देते ठंडी हो गई थी।

पिताजी की मृत्यु मेरे जीवन का एक पुनरारंभ था। मैं सहसा महसूस करने लगा था कि अब जीवन में मुझे भी सुख-चैन का कोई हिसाब अपने अनुसार ठीक कर लेना चाहिए। अब मेरी सांसों पर से भय का, आतंक का बोझ हट चुका था और मैं खुलकर सांस लेता दिन में भी कुछ सपने देखने लगा था। ठीक उन्हीं दिनों जीवन की अन्य कल्पनाओं के साथ तुम मेरे सम्मुख आ खड़ी हुई थी—सपनों की एक साकार प्रतिमा के रूप में। नाम भी तुम्हारा 'प्रतिमा' था—कितना सांकेतिक, कितना सही ! प्रायः मैं तुम्हारे नाम की अपनी कल्पनाओं के संदर्भ में व्याख्या किया करता और लगता कि तुम बिल्कुल वही हो, जिसकी मुझे तलाश थी।

फिर, मैं पहल कर सकता, इसके पूर्व तुमने ही पहल कर दी थी। मुझे खूब याद है कि उस दिन तुम जाड़े की धूप में अपनी छत पर बाल सुखा रही थीं और मैं 'कोकशास्त्र' की एक किताब अपनी छत पर, मां से छिपाकर पढ़ रहा था।

बी० ए० की परीक्षा दे चुका था। परीक्षाफल की प्रतीक्षा थी। मेरे सगे मामा काफी बड़े आदमी थे। उन्होंने आश्वासन दिया था कि मनोहर बी० ए० कर ले, बस, नौकरी पक्की है। अपनी बहन या मेरी मां पर यह उनका पहला और अंतिम अहसान था, जो उन्होंने पूरा कर भी दिया था, अर्थात् बी० ए० सेकेंड डिविज़न में पास करते ही मुझे रेलवे में क्लर्की दिलवा दी थी। वे रेलवे के एक ऊंचे पदाधिकारी थे। दूसरे शहर में रहते थे और कभी भूले-भटके याद कर लिया करते थे। मां भी स्वाभिमानिनी थीं। पिताजी से रात-दिन लात-घूंसे खाती मर गईं, किंतु भाई के सम्मुख किसी भी सहायता के लिए नहीं झुकीं···न कभी उनसे कुछ कहा, न मांगा। हां, मुझे नौकरी दिलवाने का एकमात्र अनुरोध अवश्य किया था और वह एकमात्र अनुरोध मामाजी ने पूरा भी कर दिया था। बस, संबंधों के नाम पर जीवन में एक समर्थ भाई ने अपनी असमर्थ बहन के लिए इतना अवश्य कर दिया था, अन्यथा उनके तिमंजिले भवन और हमारी सीलनभरी दो कोठरियों के बीच कोई रिश्ता नहीं था।

देखो, मैं फिर बहक गया ! किंतु कहा न, ज़िन्दगी के दर्द के बिखरे टुकड़े ऐसे जुड़े होते हैं कि एक दर्द की बात होती है, तो अनेक दर्द याद आ जाते हैं। मामाजी की कृपा से मिली वह नौकरी मैंने ज़हर की घूंट की तरह ही स्वीकार की थी···क्या करता ! मेरे जीवन में अभावों का इतना ज़हर घुल चुका था कि ज़हर को मारने के लिए ही यह ज़हर पीना पड़ा। नौकरी मिल गई थी, रेलवे का क्वार्टर भी मिल गया था। पिताजी रास्ते से हट चुके थे। मैं तुम्हारे सपने देखने लगा था। लगने लगाथा कि अब मेरी भी कोई ज़िन्दगी होगी—कोई अपनी ज़िन्दगी !

हां, तो तुम केश सुखाती मुझे तिरछी चितवन से देख रही थीं और मैं 'कामशास्त्र' की उस पुस्तक में जिन अनावृत नारी-अंगों के चित्रों को देख रहा था, तुम उन अंगों को प्रकट में सुर्ख लाल साड़ी से ढंके, किंतु अप्रकट में साफ-साफ अपने मोहक उभारों को झलकातीं, मुसकराते ओठों को दबाए, मुझे तिरछी चितवन से देख रही थीं।

"सुनो···क्या पढ़ रहे हो ? जरा हम भी देखें !" तुमने सहजता से मुसकराकर कहा था। तुम्हारी उस मुसकान में अजीब नशा था। और मुझे सहसा लगा था कि जाड़े की वह सुनहरी धूप बेहद सुनहरी हो उठी है। उस सुनहरी धूप की ऊष्मा एक सुनहरे सपने के अहसास के साथ मेरे वक्ष में धड़क उठी। मेरी धड़कनें तेज हो गई थीं—इतनी तेज कि मैं उन्हें साफ-साफ वैसे ही सुन रहा था, जैसे साफ-साफ तुम अपनी मोहकता दरसा रही थीं। तुम्हारे प्रदर्शन और मेरे स्वीकार के विनिमय में कुछ भी समय न लगा, जैसे मुझे जिन क्षणों तुम्हारी प्रतीक्षा थी, ठीक उन्हीं क्षणों तुम मेरी प्रतीक्षा के प्रत्युत्तर की साकार प्रतिमा-सी ही मेरे सामने स्वयं ही आकर खड़ी हुई थी—प्रतिमा।

मैं झेंप गया था। क्या बतलाता कि मैं क्या पढ़ रहा था, या देख रहा था ! तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में मैं उठ खड़ा हुआ और भरपूर नजर से तुम्हें, पहली बार किसी लड़की को देखा, देखता रहा। तुमने मेरे भीतर रक्त के आलोड़न इतने तीव्र कर दिए थे कि उनकी ऊष्मा से मैं दहक उठा था। मेरी झेंप मेरा साहस बन गई। तुम्हारी कामना ने मेरे पौरुष को जगा दिया कि तुम्हें पाना ही है।

'तुम्हारा नाम ?" तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में मैंने भी एक प्रश्न किया था।

"प्रतिमा ! प्रतिमा का अर्थ समझते हो ?" तुमने ढिठाई से कहा और मुझे तुम्हारी ढिठाई भी मुग्ध कर गई। मैं किसी लजीली लड़की की कामना किया करता था—किसी छुई-मुई की, जो स्पर्श-मात्र से सकुचित हो उठे, किंतु तुम्हें पाने की कामना के साथ तुम्हारा सब कुछ अच्छा लगने लगा—तुम्हारी बंकिम चितवन, तुम्हारी शरारती हंसी, तुम्हारी ढीठ मोहक मुद्राएं, सब कुछ ! देखो न, सीधे-सादे मनोहर जोशी नामक रेलवे के एक साधारण क्लर्क, २२ वर्षीय युवक के प्राणों में तुम्हारी मोहक चितवन ने संयोगिता को पाने के लिए पृथ्वीराज जैसा साहस जगा दिया था ! लगा, मैं तुम्हारे लिए सब कुछ कर सकता हूं।

मां को मन की बात बताई कि तुम्हें पाना चाहता हूं, तो वह खुश नहीं हुईं, "नहीं बेटा, वह लड़की तेरे लायक नहीं है ! एक तो हमसे बड़े

ती है; दूसरे स्वभाव की भी चंचल है...तुझ पर भारी पड़ेगी।"
और मैं मां से नाराज़ हो उठा। सोचा कि अब जो करना है, स्वयं करूंगा, मां से भी क्यों पूछूं? मां में शायद इतनी अक्ल ही नहीं है वे मेरे सपनों का अर्थ समझ सकें। उन्हें कोई सपना देखना भी कहां आता था! वे तो जैसे हाड़-मांस की नहीं, पत्थर की बनी हुई थीं और तों में भी सपनों के स्थान पर ज़िन्दगी के निर्मम यथार्थ ही देखती ती थीं—वे विर्मम यथार्थ बिल्कुल साकार जो थे, पिताजी के रूप। आज जब वह सब इतना पीछे हट चुका है, या सच तो यह है कि ाज ही कुछ देर पहले सपनों का वह तिलस्म टूटा है, तो मुझे भी हसा समझ में आ गया है कि अक्ल मुझमें ही कहां थी!

वैसे भी, कहा जाता है न कि 'लव इज़ ब्लाइंड', अर्थात् प्रेम अन्धा होता है। मुझसे पूछिए, तो अब कहूंगा कि प्रेम अन्धा ही नहीं, बहरा और बेवकूफ भी होता है। बुजुर्ग जिसे गधापचीसी की उम्र कहते हैं, उस उम्र में प्रायः हर युवक स्वयं को किसी हद तक मजनूं साबित करने पर तुल जाता है और शायद हर युवती लैला बनने का दम भरने लगती है। क़िन्तु ९९ प्रतिशत वास्तविकता तो शायद सिर्फ इतनी होती है कि जब मानव-शरीर में, स्त्री और पुरुष दोनों में, यौवन जागता है, तो मानो आकाश और धरती के रंग बदल जाते हैं। आकाश और धरती के रंग नहीं बदलते, युवा आंखों के सपने उन्हें स्वप्नों के रंग से रंगा देखने लगते हैं। ज़िंदगी के निर्मम नंगे, स्थिर यथार्थ तो वैसे ही रहते हैं, लैला-मजनूं उन यथार्थों को स्वयं ही इतना मायावी बना लेते हैं, जैसे रेशम का कीड़ा अपने इर्द-गिर्द एक रेशमी जाल बुन लेता है—स्वयं ही फंसकर मर जाने के लिए। शायद बात सिर्फ इतनी होती है कि जब यौवन के रक्त से शिराएं दहकने लगती हैं, तो वह आग एक तृप्ति चाहती है—मात्र शरीर-सुख की। तन की तुष्टि उस उम्र का तकाजा होती है। यह कामना सहज, स्वाभाविक, नैसर्गिक ही होती है। किन्तु मनुष्य पशु नहीं होता न, इसीलिए देह-सुख की कामना के साथ कुछ भावनाएं भी जुड़ जाती हैं। पशु से अलग होने के कारण ही मानव तन की तुष्टि के साथ मन की

तुष्टि जैसी भी कुछ चीज चाहने लगता है। सामान्य प्रेम मात्र शरीर की भूख होती है। केवल तन का आकर्षण। उबाल खाते युवा रक्त की कामना। एक नैसर्गिक बात, जैसे वसंत आने पर फूल खिलते ही हैं और उन पर भौंरे मंडराते ही हैं। नारी किसी पुष्प-सी खिलती है। पुरुष उस पर भौंरे-सा मंडराता है, रस पीता है, उड़ जाता है। कभी-कभी कोई भौंरा किसी पुष्प की पखुड़ियों में बंदी भी हो जाता है, किन्तु ऐसा पुष्प और ऐसा भ्रमर यदा-कदा ही होते हैं वरना एवरेज तो लैला-मजनूं का स्वांग भरनेवाले यदि पति-पत्नी भी बन जाते हैं, तो रक्त के फेनिल ज्वार के उतरते ही किनारे पर पड़े कीचड़ में सनकर रह जाते हैं। कितने हाथ ऐसे होते हैं कि उस कीचड़ को धोकर अपने साथी को फिर साफ-सुथरा बना सकें? यौवन के फूलों के साथ जीवन के एक-दूसरे के पैरों में गड़े शूल भी चुन सकें?

जो लैला-मजनूं विवाह के बंधन में बंधने के पूर्व एक-दूसरे को पाने के लिए पागल हो उठते हैं, वे समय का कुछ अंतराल पति-पत्नी के रूप में जीने के बाद उस बंधन से छूटने के लिए आतुर हो उठते हैं। वह बंधन प्रायः 'कैद' बन जाता है। फिर समाज और सस्कारों के नियम उस 'कैद' को 'उमर कैद' बना देते हैं। जिस सेज-सुख को कुछ बार एक अलभ्य तृप्ति मानकर एक एवरेज प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी भोगते हैं, उनके बीच एक-दो शिशुओं के आने के बाद, या समय के छोटे-से अंतराल को तन में भोगने के पश्चात् प्रायः वे एक-दूसरे की ओर पीठ फेरकर नींद पूरी करते होते हैं और उनके बीच पड़ा कोई शिशु, जिन्दगी के यथार्थ के प्रति-रूप जैसा, चीख-पुकार मचाता उनकी नींद हराम करता होता है।... 'साली, जिंदगी हराम हो गई तुम्हारे साथ!'—एक एवरेज पति अपनी पत्नी से निश्चित रूप से किसी-न-किसी रूप में कहता है और, 'कौन-सा सुख दिया है तुमने मुझे? इससे तो अच्छा था, मुझे मौत आ जाती!' या ऐसा ही कुछ, एक एवरेज पत्नी अपने पति-पुरुष से चीत्कार या दुत्कार के रूप में कहती होती है। पति-पुरुष कभी गुर्राता है, कभी दुम हिलाता है...और मारे लैला-मजनूत्व की परिणति कुत्ते-बिल्ली की-सी नोच-खसोट में—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में परिणत हो जाती है। यह नहीं कि हमेशा

औरत ही जख्मी होती है, जख्मी मर्द भी होता है, किन्तु पुरुष के तन-मन की चमड़ी अपेक्षाकृत सख्त होती है न, तो चोट भी ज्यादा नहीं लगती और लगती भी है, तो दाग गहरे नहीं पड़ते।

हमारी रेलवे कॉलोनी का धोबी, किसना धोबी है। बड़ी-बड़ी लाल आंखें, ऐंठी मूंछें और इतना डरावना आकार कि मेरी बिटिया शोभा उसे पहली बार देखने पर चीख पड़ी थी। तब वह बोलना भी नहीं जानती थी। इसके बाद मेरी पत्नी उसे 'किसना धोबी' का नाम लेकर डराया करती थी, "बुलाऊं किसना धोबी को ?" और दूध पीने के लिए चीख-पुकार मचाती शोभा बिटिया दूध का गिलास चुपचाप एक बार में गट-गट पी जाती थी। किसना धोबी आकार में ही नहीं, व्यवहार में भी राक्षस था। वह अपनी धोबिन को नियमित रूप से पीटता था। वह चीख-पुकार, उठा-पटक, गाली-गलौज इतनी नियमित थी कि किसी दिन रात के दस-ग्यारह बजे हमारे मुहल्ले में यदि शांति बनी रहती, तो मुझे लगता, आज किसना कहीं चला गया है, या उसकी तबीयत खराब है। फिर एक दिन सुना, देखा भी कि किसना की धोबिन गले में गगरा बांधकर उसी तालाब में डूब गई थी, जिसके घाट पर किसना कपड़े धोया करता था। मैंने धोबिन के विकृत, फूले शव को देखा था। फिर सुना, किसना सब कुछ छोड़-छाड़कर कहीं चला गया है, न जाने कहां। किसना सचमुच नहीं लौटा। उसकी दो बेटियां ब्याही जा चुकी थीं। बेटा था नहीं। धोबिन डूब ही मरी थी।

परसों कुछ जरूरी काम से अपने एक वरिष्ठ अधिकारी के घर अचानक जाना पड़ा, तो देखा, सभ्य भाषा में, अर्थात अंग्रेजी भाषा में, वैसी ही चीख-पुकार उस भव्य भवन से भी आ रही थी, जिसके सामने फूलों भरा हरी घास का लॉन था और माली तन्मयता से उन फूल-पौधों को सींच रहा था। भीतर की चीख-पुकार उस बूढ़े माली की तन्मयता में कोई बाधा नहीं डाल रही थी, "आप यहां बैठो, भैया, साहब अभी आवेंगे··· तनिक सांती हो ले।" और वह अपने बेसुरे सुर में 'जै जै राम राधेश्याम, सीताराम राधेश्याम' गुनगुनाता पौधों को सींचता रहा—ऐसे निर्विकार

भाव से, जैसे भीतर से आती चीख-पुकार कोई रोज की-सी बात हो।

भीतर से आवाजें आ रही थीं, हिन्दी-अंग्रेजी-मिश्रित उन आवाजों का आशय ले-दे कर यही था, "यू बिच ! आई हेट यू !" यह हमारे बॉस की गुरु-गंभीर आवाज थी। "आई टू हेट यू ! रादर आई वुड लाइक टु डाई दैन लिव विद यू एनी मोर !" यह एक तेज नारी-कंठ का प्रत्युत्तर था, जो सिसकियों और आक्रोश के बीच कांप रहा था। कुछ देर खामोशी रही। सहसा मिसेज गुप्ता अटैची लिए, पूरे मेकअप में खट्-खट् करती निकलीं, शोफर से कार निकालने के लिए कहा और चाबी का गुच्छा मिस्टर गुप्ता के सामने सन्नाटे में फेंकते हुए उन्होंने शोफर को हुक्म दिया, "स्टेशन चलो !"

मैं स्तब्ध, अवाक् खड़ा रह गया था, किन्तु मिस्टर गुप्ता सहज सन्तुलित थे। सिगार सुलगाकर मेरी ओर बढ़े, "हलो, जोशी, आज इस समय कैसे ?" मैंने चुपचाप कागजात उनकी ओर बढ़ा दिए।

"आई सी ! अच्छा किया, जो तुम अभी चले आए। इस बारे में देरी करना ठीक नहीं था। वेल, थैंक यू, तुम जा सकते हो···लेकिन मुझे कल एक मीटिंग अरेंज करनी होगी, तो स्टाफ के इन लोगों को सूचना देते जाना कि कल इनको नौ बजे तक ऑफिस पहुंच जाना है।" मिस्टर गुप्ता ने जिन चार लोगों के नाम लिखकर दिए, उनमें एक नाम तुम्हारे पति का था—प्रतिमा के पति का। सबको सूचना देते जब मैं काफी देर में घर पहुंचा, तो रात देर तक बार-बार किसना की उस खाली कोठरी को देखता रहा, जो भीषण बरसात के कारण ढह गई थी। फिर स्वप्न में बार-बार देखता रहा कि मिस्टर गुप्ता की दुमंजिली कोठी भी ढह गई है··· ईंट, पत्थरों का वैसा ही एक मलबा है, जैसा किसना की कोठरी का रह गया था और लोग इशारे करते कह रहे हैं···'अरे, भूकम्प में गुप्ता की कोठी ढह गई···राम राम ! कोई भी तो नहीं बचा ! कुछ भी तो नहीं बचा !' किन्तु वह मात्र स्वप्न था। मिस्टर गुप्ता की कोठी आज भी खड़ी है और उन्होंने पुनर्विवाह कर लिया है। सुना, मिसेज गुप्ता ने भी तलाक लेकर फिर शादी कर ली है।

मेरा दिल और दिमाग किसना धोबी से लेकर मिस्टर गुप्ता तक

चक्कर खाता रह गया था। मूलतः कोई भी तो अन्तर नहीं था, जैसे हर गोरी या काली चमड़ी के भीतर हमारे नर-कंकाल एक जैसे ही कुरूप और भयावह होते हैं। लगता है, आज तुम्हारे 'सत्य' को पहचान कर जीवन के सारे सत्य ठीक-ठीक समझ में आकर ही मानेंगे, जैसे श्मशान से लौटकर जीवन की सारी निस्सारता समझ में आ जाती है…यद्यपि निस्सारता का वह बोध क्षणिक होता है…जीवन की गहमागहमी में हम उसे भूल ही जाते हैं…और अच्छा है कि भूल जाते हैं।

हां, तो तुमने मेरे मजनूंत्व को अपनी वंकिम चितवन से जगा दिया था…वे पुष्पधन्वा के फूलों के शर थे न! मां ने वार-वार समझाना चाहा, "देख, वेटा, उस लड़की का ख्याल छोड़ दे, वह तेरी पहुंच के वाहर है।"

और तुम वार-वार कसमें खाती मुझसे कह रही थीं, "मनोहर देखो, मेरा साथ छोड़ न देना, वरना जान दे दूंगी…!" मां के साधारण नीरस शब्दों की तुलना में तुम्हारी रससिक्त कसमें वहुत भारी थीं। फिर सीधी वात थी, मां को तो दो-चार साल जीना है, मुझे और तुम्हें तो पूरी जिन्दगी जीनी है—मां के शब्दों जैसी नीरस जिन्दगी नहीं, तुम्हारी रससिक्त कसमों जैसी जिन्दगी!

चांदनी रातों में कभी तुम मेरी छत पर आ जातीं, अंधेरी रातों में कभी मैं तुम्हारी छत पर कूद पड़ता। फिर हमारे शरीर आलिंगनों में एक होते और हम आलिंगनवद्ध शरीरों से जुड़ें, कसमें खाया करते प्यार की, वफा की, कभी अलग न होने की, साथ जीने या मर जाने की!

सहसा एक दिन तुमने वताया, "मनोहर, लगता है,…मुझे दिन चढ़ गए हैं!" तुम इमली चूस रही थीं।

मैं स्तब्ध रह गया, "अव क्या होगा…?" कहते मेरी जीभ सूख रही थी।

"हमें तुरन्त शादी कर लेनी चाहिए। अपनी मां की तो मुझे रत्ती भर चिंता नहीं, तुम सोच देखो, तुम्हारे माता-पिता नहीं मानते, तो हम भाग चलेंगे!" मैंने कहा।

मेरी पत्नी को दिन चढ़ चुके थे। मरती मां की आंखों में तृप्ति थी, "तेरा घर-संसार बस गया, बेटा! बहू अच्छी लड़की है···उसका ख्याल रखना···उसे दुःख मत देना, बेटा!"

सरला सचमुच सरल थी। छुई-मुई-सी। मासूम आंखोंवाली। सांवली, सलोनी। किन्तु उसके किसी भी सलोनेपन को देखने को मुझे फुरसत कहां थी। उसके लजीलेपन को मैं दुत्कार देता। मेरी आंखों में तो तुम्हारी बेबाक ढिठाई समाई हुई थी। सरला की भोली मासूम दृष्टि को मैंने अनदेखा रहने दिया। तुम्हारे बंकिम कटाक्षों की तुलना में वह सरल दृष्टि मुझे बांध नहीं पा रही थी···या मैं ही बंधना नहीं चाह रहा था। शरीर में धड़कती आग को शांत करने के लिए मैं सरला को निकट खींचता···फिर परे ढकेल देता। वह आहत-सी होकर रह जाती, "तुम्हें शायद मैं भाती नहीं?" एक बार सरला ने मुझसे शारीरिक उत्तप्तता के क्षणों में आर्द्र स्वर में पूछा था।

उन उत्तप्त क्षणों के बाद पीठ मोड़कर सोते मैंने सरला से सख्त स्वर में कहा था, "बेकार के सवाल मत किया करो! तुमसे शादी की है, निभा रहा हूं···और क्या चाहती हो तुम?" मैं तो गहरी नींद सो गया था, किन्तु सुबह देखा, सरला की आंखें लाल थीं, जैसे सारी रात सोई न हो, या रोई हो। उन लाल आंखों की प्रतिक्रिया मुझपर केवल इतनी हुई कि सलमे-सितारे जड़ी लाल साड़ी पहने तुम मुझे सारे दिन बार-बार याद आती रहीं···सरला की लाल आंखें एक बार भी नहीं।

जैसे शादी हुई, वैसे ही बच्चे भी हो गए—शोभा, आभा और अरुण। फिर मैंने सरला का ऑपरेशन करवा दिया। सरला बच्चों और घर-गृहस्थी में व्यस्त रहती, मैं दिन भर अपनी क्लर्की में, शाम को यार-दोस्तों में। फिर मैं बिल्कुल एवरेज हो गया था···बस, कभी-कभी रेशमी रूमाल में लिपटे सहेजकर रखे तुम्हारे पत्रों को लेकर असहज हो उठता था। धीरे-धीरे दस वर्षों का अन्तराल पार करते, उम्र के बत्तीस वर्षों को लांघते, मेरी आंखों में भी ज़िन्दगी इतनी धूल झोंक चुकी थी कि उनमें बसी प्रतिमा का रूप यानी कि तुम धुंधली हो उठी थीं। एक मामूली क्लर्क की ज़िन्दगी में, परिवेश में, वैसे भी इतनी गर्द उड़ती रहती है कि

उसकी आखों में कुछ और शेष नही रहता, बस धूल और धूल की किर-किराहट ही वची या वनी रहती है। वह रेशमी रूमाल, वक्से मे रखे-रखे भी वदरंग हो गया था। उन पत्रों के कागज पीले पड गए थे, गलने लगे थे और मैंने उन्हें देखना, सहेजना वद भी कर दिया था।

आज अभी मैं उस रेशमी वदरग रूमाल को, उन पीले पड़ गए पत्रों के कागज़ों सहित, तुम्हारे पत्रों सहित, तुम्हे सौंपकर लौटा हूं···और रास्ते भर लौटने शब्द को तोलता रहा हूं। लग रहा है, एक अन्तराल ही नही, एक अन्तर पारकर लौट आया हूं। आज मैं एक झटके से सहसा उस होश को पा गया हूं, जिसे वर्षों पूर्व तुम उड़ा ले गई थीं।

परसों ही तो जब बॉस के आदेशानुसार मैं उन चारों मे से अन्तिम व्यक्ति, बॉस के बाद हमारे क्लर्क में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति श्री तेजप्रकाश श्रीवास्तव के घर पहुचा, कॉल वेल वजाई, तो जिसने दरवाज़ा खोला, वह तुम थी और मैं चक्कर खाकर गिरते-गिरते बचा था।

लेकिन तुम बिल्कुल सधी हुई थी। वही बकिम कटाक्ष मेरी ओर फेंकते मुस्कराई थी, "अरे, तुम ! अच्छा, मेरी खातिर ज़रा सावधान रहना, बाकी मैं सभाल लूगी।" और तुम जल्दी-जल्दी आवाज देती भीतर गई थी, "सुनिए जी, आपके ऑफिस के कोई मनोहर जोशी आए हैं।"

मैं देखता खड़ा रह गया था—सुनहरी साडी, कानों मे सोने के फूल, हाथों मे सोने की चूड़िया, गले में सोने का चन्द्रहार। तुम सर से पैर तक जगमगा रही थी। तुम्हारा लाल रंग बदलकर सुनहरा हो गया था, यानी तुम्हारे जीवन की लालिमा सोना भी बन गई थी—ठीक तुम्हारी साड़ी के बदले रंग जैसी।

मैं भीतर बुलाया गया। श्रीवास्तव जी के हाथों मे बॉस का आदेश-पत्र देते सुना, "बैठिए, अभी जवाब लिख देता हू। अच्छा होगा, इसे बॉस को देते जाइए, अभी इसी वक्त···बहुत जरूरी है।"

श्रीवास्तव जी जवाब लिखने के लिए भीतर चले गए थे। तुम जल्दी-जल्दी मेरे निकट आई थी, "सुनो, परसों दोपहर मे तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी···बिल्कुल अकेले मे···समझे ? बाकी मैं सभाल लूगी ! हा, हो

सके, तो मेरे पत्र लेते आना, जो तुम्हारे पास रह गए थे···मैंने मांगे भी थे, तुमने लौटाए नहीं ! अब जरूर लेते आना···बाकी मैं संभाल लूंगी !"

यह 'बाकी मैं संभाल लूंगी' क्या तुम्हारा तकियाकलाम बन गया है ? मैं एक साथ आहत, विस्मित, क्षुब्ध हो उठा था। तुमने अन्तिम बार इमली चूसकर फेंकते मुझसे यही कहा था···आज वर्षों बाद फिर यही कह रही हो···और यद्यपि तुमने स्वर को आर्द्र बनाने की चेष्टा की थी, किन्तु मुझे उसमें उस धूर्तता की ही ध्वनि सुनाई दी थी—ठीक वैसी ही धूर्तता की, जिसके लिए तुम्हारे पतिदेव हमारे ऑफिस में सरनाम या बदनाम थे। हम सब उन्हें बॉस का 'स्पेशल चमचा' कहते थे—सबसे बड़ा। और यह चमचा जल्दी ही बॉस की कुर्सी तक जा पहुंचेगा, यह भी निश्चय था। श्रीवास्तव जी को सिर्फ तीन वर्ष इस ऑफिस में आए हुए थे, जहां मैं लगभग दस वर्ष से झख मार रहा था···लेकिन श्रीवास्तव जी ने एक वर्ष भी झख नहीं मारी। जूनियर से सीनियर और फिर सीनियर मोस्ट होने में उन्हें सिर्फ तीन वर्ष लगे। और उनकी लालसा का निस्तार जितना फैलता गया, उनकी मिचमिचाती धूर्त्त छोटी-छोटी आंखें उतनी ही और छोटी होती गईं। अब तो वे बड़े मोटे कांच का चश्मा लगाने लगे हैं। वे कहते हैं, "भई, हमारी आंखों में बड़ी तकलीफ रहती है···कहीं अंधा ही न हो जाऊं !"

लेकिन मुझे तीन वर्ष तक कहां पता था कि ये ही श्रीमान् तेजप्रकाश तुम्हारे पतिदेव हैं और तुम इसी शहर में हो ! तुम्हारी कोई खबर मुझे नहीं थी। नौकरी पाने के बाद मैंने भी वह शहर छोड़ दिया था, जो तुम विवाह के बाद छोड़ गई थीं। तुमने तो उसके बाद मुड़कर भी नहीं देखा था, किन्तु मैं तुम्हें भूल नहीं सका था।

तो आज मैं तुम्हारे बताए नियत समय पर तुम्हारे घर पहुंचा। द्वार तुम्हींने खोला। तुम फिर सुर्ख लाल रंग की साड़ी पहने थीं। मुख पर गदराए स्वास्थ्य की लाली थी और तुम्हारा वक्ष इतना गदराया हुआ था कि तुम्हें सामने पाकर कोई भी पुरुष-आंखें तुम्हारे मुख से अधिक तुम्हारे वक्ष पर ही अटकेंगी। फिर तुम उनका प्रदर्शन भी करना जानती थीं—

आरंभ से ही…अब तो और भी अधिक अनुभवी हो गई होगी !

ख़ैर, तुमने द्वार खोला, मुसकराईं, "आओ, घर में कोई नहीं है। बच्चे स्कूल में हैं। श्रीवास्तव जी अभी कम-से-कम तीन घंटे तक नहीं लौट सकते। नौकर को मैंने छुट्टी दे दी है। देखो, मैंने आज सब बातें तुम्हारी खातिर संभाल ली हैं…कितनी रिस्क भी ले रही हूं ! हमें इस समय को खोना नहीं चाहिए…फिर कभी ऐसा समय मिले न मिले ! अच्छा, मेरे पत्र लाए…?" तुम दरवाज़े की सिटकनी लगाती मुझसे लिपट गईं।

तुम अपने स्वर को, अपनी दृष्टि को, अपने स्पर्श को जो 'रंग' देना चाह रही थीं, वह महज एक नाटक था। उस नाटक की वास्तविकता मेरे सम्मुख बिलकुल अनावृत हो उठी थी, यद्यपि तुम्हारे अंग रेशमी साड़ी से ढके थे और तुम उन्हें और ढकने के बहाने और दिखाने का अभिनय भी बखूबी कर रही थीं।

"तुम्हारे पत्र ये रहे…गिन लो…कोई छूट तो नहीं गया…!" मैंने पत्रों का बंडल फ़र्श पर फेंक दिया।

"ओह, तुम तो सचमुच नाराज़ हो गए लगते हो ! समझते क्यों नहीं कि मैं आज भी तुम्हें प्यार करती हूं ! देखो, मैंने जान पर खेल कर तुम्हें अपने घर बुलाया है और आज भी सब कुछ तुम्हें देने के लिए तैयार हूं…! सचमुच इन पत्रों को मुझे लौटा देने के लिए मैं तुम्हें कितने धन्यवाद दूं ! लो, इस धन्यवाद के रूप में अपने आपको ही देती हूं…!" तुमने मुझे शय्या पर खींच लिया। फिर कहा, "और, सुनो, जैसे ही श्रीवास्तव जी की तरक्की मिली, तुम्हारी भी तरक्की पक्की है…मैं तुम्हारे लिए जो भी बन पड़ेगा, करूंगी, करती रहूंगी…!"

सहसा तुम उठीं। उन पत्रों के बंडल को तुमने दियासलाई दिखा दी। वे पुराने पीले कागज़, वह बदरंग स्याही क्षण में जल उठे। पांच-सात मिनटों में वह सब राख हो गया। तुम बिलकुल निश्चिंत हो उठीं। साड़ी वक्ष से गिरा दी। लज्जा का नाट्य करते बोलीं, "कहो, इसकी तो याद है, या भूल गए…?" वही बंकिम कटाक्ष। वही [illegible] मुसकराहट। किन्तु कितना पका चुकी थी तुम अपने उन सबको [illegible] 'हैं, जब अंग-राई में आम गदराते हैं, तो अमराई सुगंध से भर [illegible]

कभी मुझे तुम्हारी देह से महकती अमराई की-सी सुगंध आती लगी थी। किन्तु आज लग रहा था कि वे आम गदराए नहीं, सड़ गए हैं। जाने कैसी दुर्गन्ध का-सा अहसास हो रहा था···यद्यपि तुम किसी सेंट की तेज खुशबू से भी महक रही थीं।

तुम्हें स्थिर नज़रों से तोलते मैंने पूछा, "यहां कहीं कोई नाली तो नहीं है ? दुर्गन्ध के भभके-से आ रहे हैं !"

"नहीं तो, यह तो बिल्कुल साफ-सुथरी लोकैलिटी है ! शायद तुम्हें अपनी गली या मुहल्ला याद आ गया है···रेलवे क्वार्टर में रहते हो, न ? वहां क्या सफाई रहती होगी···! अच्छा आओ, क्या बेकार की बातें कर रहे हो···जल्दी करो···समय बेकार मत गंवाओ !"

तुमने साड़ी उतारकर फेंक दी। नशीली नजरों से देखती बोलीं, "आज नई 'ब्रा' पहनी है···तुम्हारी खातिर ! हुक जरा कस गया है···इसे ढीला कर दो···या उसका अंदाज भी भूल गए···?"

याद आया, वर्षों पूर्व तुम्हारी 'ब्रा' ढीली करते तुम्हारे वक्ष को हाथों में भरते, कालिदास की शकुंतला का वह प्रसंग याद आ गया था, जब यौवन-भार से बोझिल हो उठी शकुंतला ने अपनी सखी से कहा था, 'तनिक यह चोली ढीली कर दो, सखी···!' वह सब कितना मोहक था ! कितना मादक ! कितना निर्दोष ! कितना नैसर्गिक भी ! और आज यह सब कितना कुत्सित दुर्गन्धित, सौदेबाजी-सा लग रहा था !

मैं तुम्हें परे सरकाता उठ खड़ा हुआ, "नहीं, प्रतिमा मैं तुम्हारे सारे नाप, सारे अंदाज भूल गया हूं···आज तक शायद नहीं भूला था···किन्तु अब यदि न भी भूला हूं, तो भूल जाऊंगा···चलता हूं···!" मैं दरवाजे की ओर बढ़ा।

तुम दौड़ीं, "तुम मेरे साथ अपनी तरक्की को भी ठोकर मार रहे हो, मनोहर ! पछताओगे !"

मैंने बिना उत्तर दिए, द्वार खोला। बिना मुड़कर देखे तुम्हारे घर से निकल आया···लौट आया। हां, आज ही तो बरसों बाद तुम्हारे घर से लौटा हूं। उस घर से, जो तुमने मेरे ही सीने में कहीं घरौंदे-सा बनाया था, और मैं उसे महल समझता रहा, जब कि तुम्हारे लिए वह घरौंदा

बचपन था न सही, यौवन का एक खेल मात्र था। रास्ते भर मैं अपने सीने में बने उस घरौंदे को ठोकरें मार-मार कर तोड़ता रहा हूं। फिर देर तक सड़कों पर जाने क्या-क्या सोचता, भटकता रहा, यहां तक कि रात घिर आई।

अपने घर लौटकर मैंने दरवाजा खटखटाया है। सरला ने दौड़कर दरवाजा खोला है, "मैं तो घबरा गई थी···कितनी देर कर दी तुमने !"

मैंने सरला की मासूम घबराई दृष्टि को शायद पहली बार भरपूर दृष्टि से देखा है।

"ऐसे क्यों देख रहे हो···?" वह लज्जा से नहीं, किसी भय से आकुलित हो उठी है।

"तुम्हें देख रहा हूं···!" मैंने बढ़कर सरला को आलिंगन में भर लिया है···शय्या पर खींच लिया है···मैली साड़ी पहने सरला को। देख रहा हूं, उसकी ब्लाउज के बटन टूटे हैं। वह घर की सिली अंगिया ही पहनती है, जिसकी गांठ को मैंने कई बार जल्दी न खुलने पर इतनी निर्ममता से खींचकर खोला है कि सरला आह कर उठती थी। दोनों बच्चे सो रहे हैं। खाट पर बीच में सोते अरुण को आज मैंने स्वयं उठाकर जमीन पर शोभा और आभा के बीच सुला दिया है और सरला को खींचकर बिल्कुल सटा लिया है। वह थर-थर कांपने लगी है, "क्या बात है आज···? तुम ठीक तो हो न ? तबियत तो खराब नहीं हो गई···?"

आह ! कितना आहत किया है मैंने सरला को कि आज सहज स्नेह के लिए बढ़े मेरे हाथों से भी वह डर रही है कि उसे मैं न जाने किस रूप में और आहत करूंगा !

सरला की आंखों में डर है। मेरी आंखों में आंसू भर आए हैं।

"यह क्या ? तुम रो क्यों रहे हो···" सरला सहमा अपना ध्यान भूलकर मेरे लिए चिंतित हो उठी है, "क्या बात है जी, बोलते क्यों नहीं ? तबियत तो ठीक है न ?"

"मैं बिल्कुल ठीक हूं, सरला ! आज ही तो बिल्कुल ठीक हो पाया हूं।"

मैंने सरला को प्रगाढ़ आलिंगन में भर लिया है। हमारी धड़कनें विवाह के बाद, दस वर्ष बाद, इतनी निकट होकर एक साथ धड़की हैं। सरला की कांपती सांसें धीरे-धीरे सहज हो गई हैं। वह बिल्कुल शिथिल होकर मेरी बांहों में समा गई है, "सुनो···मुझे ऐसा लग रहा है, जैसे आज मेरी सुहागरात है···!" सरला ने बहुत धीरे-से, बहुत संकोच से कहा है।

मैंने चिबुक पकड़कर उसका मुख उठाया है, "हां, सरला, सच में आज ही हमारी सुहागरात है!" सरला के सांवले कपोलों पर गुलाल बिखर गया है। कुछ देर पहले प्रतिमा का मुख भी तो किसी लाली से आरक्त था···लाली से, लाली या के छद्म से?

"सुनो, सरला, जरा देखूं, तुम्हारा नाप क्या है···। कल तुम्हारे लिए बाजार से बाजार की बनी ब्रा लाऊंगा।" मैंने सरला की अंगिया की गांठ को पहली बार कोमलता से खोलते कहा है।

सरला लाज से छुई-मुई हो गई है, "तीन बच्चों के बाप हो गए और तुम्हें अब तक मेरे ही नाप का अंदाज नहीं हो पाया···! कैसे पागल हो जी तुम!"

सरला के उरोजों को हथेलियों में भरते मैंने कहा है, "हां, सरला, मुझे सचमुच आज तक तुम्हारा कोई भी ठीक अंदाज नहीं हो पाया था··· अब हो गया है! मुझे इस देर के लिए माफ कर दो!" मेरा गला रुंध गया है।

सरला का अनावृत वक्ष तेज हो उठी धड़कनों के कारण मेरी हथेलियों में कांप रहा है। उसने अपनी हथेली से मेरा मुंह बंद कर दिया है, "न जी, ऐसे मत बोलो···तुमने किया ही क्या है जो माफी मांग रहे हो?" और आज पहली बार वह स्वयं बढ़कर मुझसे लिपट गई है···मेरे सीने में मुंह छिपाकर सिसकने लगी है।

मैंने उसके आंसुओं से भीगते कपोल ओठों से पोंछते कहा है, "और सुनो, सरल, मामाजी से कहकर अब मैं अपना तबादला दूसरे शहर में करवा रहा हूं···यह शहर अच्छा नहीं लगता···।"

"क्यों? क्या ठीक शहर का अंदाज भी तुम्हें आज ही हुआ है···?" सरला ने आंसुओं से भीगी हंसी हंसकर कहा है।

उत्तर में मैं आज सरला को पहली बार अपलक देख रहा हूं। आज मुझे सरला की देह से वर्षा की पहली फुहार के पश्चात् मिट्टी से उड़ती हिमीसोंधी गंध का-सा अहसास हो रहा है। नारी-देह की किसी अकृत्रिम गंध से मेरी सांसें महक उठी हैं।

"क्या तुमने आज कोई खुशबू लगाई है?" मैंने उस गंध को सांसों में भरते, उतारते पूछा है।

"सचमुच आज तुम्हें कुछ हो गया है"'! अजीब हो उठे हो! भला मैं क्या खुशबू लगाऊंगी? मुन्ने को गर्मी में अम्होरियां निकलती हैं, तो बहुत परेशान होता है। उसके लिए पाउडर का डब्बा मंगवाया था, तो पूरा चार रुपये का आया"'उसे ही बचा-बचाकर इस्तेमाल करती हूं कि जल्दी खत्म न हो जाए"'वैसे, कभी-कभी मेरा भी पाउडर लगाने का बहुत मन करता है!" सरला नम आंखों से मुझे देखती एक मासूम मुसकराहट बिखेर रही है और उसकी आंखों की, ओंठों की मासूमियत में कोई छल नहीं है"'कितने वर्षों बाद मैं समझ सका हूं!

कारण

अखबारों में प्रमुख खबर थी—डॉ० जयप्रकाश सिनहा की आत्महत्या। कारण अज्ञात है। सवेरे जब उनके बेडरूम का दरवाजा देर तक नहीं खुला, तो दरवाजा तोड़ा गया और वे पंखे के कुंडे से गले में रस्सी का फंदा फंसाकर, लटकते मृत पाए गए। वे अपने पीछे पत्नी, एक पुत्र एवं दो पुत्रियां छोड़ गए हैं। शहर के सम्मानित, सहृदय एवं विशिष्ट चिकित्सक के नाते हमारी हार्दिक शोकांजलि।

'च…च…च…' सारे शहर में सनसनी फैल गई।…आखिर क्या दुःख था डॉ० सिनहा को? इतना सम्मान, इतनी समृद्धि, भरा-पूरा परिवार…रोलिंग प्रेक्टिस। और फिर डॉक्टर होने पर भी उन्होंने स्वयं को समाप्त करने के लिए ऐसा कष्टप्रद, निर्मम तरीका क्यों चुना? वे डॉक्टर थे…पोटाशियम साइनाइड ले सकते थे…नींद की गोलियां खा सकते थे…या अन्य किसी विष का एक इंजेक्शन स्वयं लगाकर कम कष्ट-प्रद ढंग से मर सकते थे…पोटाशियम साइनाइड लेते तो कष्ट होना ही नहीं। फिर उन्होंने मरने का तरीका भी चुना तो फांसी का फंदा…! क्यों? स्वयं को आत्मघात की ही नहीं, फांसी के फंदे की भी इतनी कठोर सजा क्यों दी उन्होंने…? क्यों…क्यों…क्यों…? 'च…च…च…' के साथ यह 'क्यों' भी शहर भर में गूंज उठा था।

मानसिक असंतुलन या किसी शारीरिक कष्ट का भी कोई आसार उनमें प्रकट रूप में तो नहीं था—उनके परिवार के हर सदस्य ने, मित्रों ने इसकी पुष्टि की। आत्मघात की रात तक वे केसेज अटैन्ड करते रहे थे।

"हां, बस इधर कुछ दिनों से वे अचानक थक-से जाते, कभी-कभी बिल्कुल चुप हो जाते…पूछती तो कहते—'कोई खास बात नहीं है डियर!

डोन्ट वरी' !"—मिसेज सिनहा सिसकियों के बीच कह रही थी···
पुत्रियां, आभा और अंजली, रो-रोकर बेहाल हुई जा रही थी—"पापा
···पापा···पापा···! आखिर आपने ऐसा क्यों किया···?" पुत्र आशीष
स्वयं डॉक्टर बन चुका था—हार्ट-स्पेशलिस्ट के रूप में प्रेक्टिस शुरू कर
दी थी···वह भी स्तब्ध था। डॉ० सिनहा का आत्मघात का 'क्यों' उनकी
अन्य विशालताओं के कारण विराट हो उठा था···!

सबसे अधिक हतप्रभ थे सी० बी० आई० के उच्चाधिकारी मिस्टर
घोष—डॉ० सिनहा के अभिन्न मित्र। सूचना मिलते ही वे दौड़े आए।
डॉ० सिनहा के शव को निर्निमेष देखते, उनका मुख आंसुओं से भीगता
रहा—क्या सचमुच सिनहा नहीं रहे···? क्या यह सचमुच डॉ० सिनहा
का वह निर्जीव शव है, जिसने हजारों को प्राण-दान दिया···? ओह !
और यह अंत भी कैसा दारुण, कैसा हृदय-विदारक है ! क्या किया, मेरे
दोस्त, यह क्या किया तुमने···? क्यों किया ? क्यों···क्यों ?—घोष के
आंसू भी उसी 'क्यों' तक पहुंचकर रुक गए, स्तब्ध रह गए···

"भाभी जी, यदि आप इजाजत दें तो जरा जांच-पड़ताल कर लूं···
नहीं, नहीं, मुझे गलत न समझें···मैं पुलिस-ऑफिसर होने के नाते
नहीं, दोस्त के नाते जानना चाहता हूं कि सिनहा ने, मेरे यार ने यह क्या
किया ? क्यों किया ? अगर आप इजाजत दें तो···" घोष का स्वर फिर
रुंध गया···

मिसेज शकुन्तला सिनहा की आंखें लाल थीं, चेहरा सफेद पड़ गया था,
आंसू सूख चुके थे—"आपको सब अधिकार है !" कहती वे अचेत-सी
होकर डॉ० सिनहा के शव पर लुढ़क गई थीं।

घोष ने संयत होकर, डॉ० सिनहा के कमरे की पूरी तलाशी ली।
प्राइवेट कागजों का ड्राअर खोला, एक-एक कागज देख डाला, आलमारी
में मेरे कपड़ों की एक-एक तह खोलकर देख डाली, मेज का मेजपोश और
कुर्सियों के कुशन तक खींचकर फेंक दिए ! डॉ० सिनहा के अनावृत किए
जाते, फिर कफन उठाए जाते शव के समान ही, उनके कमरे की एक-एक
वस्तु अनावृत करके देख डाली, फिर जैसे उन सारी [illegible] ओं को
भी एक अदृश्य कफन उढ़ाते, घोष ने डॉ० [illegible]

था अपना दिया। सिनहा के सजीव शरीर का वजन एक नार्मल व्यक्ति का ही था, किन्तु उनका निर्जीव शव पता नहीं कितना वजनी हो उठा था कि घोष के पुष्ट कंधे उसके भार से झुके जा रहे थे...दूसरा कंधापुत्र डॉ० आशीष का था...दो कंधे और एक भाई और बहनोई के थे...फिर भी घोष को लग रहा था कि सिनहा के शव का सारा भार उनके ही कंधों पर है—कदाचित् उस अभिन्नता के कारण जो उनके और सिनहा के बीच वर्षों से चली आ रही थी...किन्तु कहां...? सिनहा ने उनसे चाहे जीवन-भर विश्वास का लेन-देन किया हो...मृत्यु के क्षणों में यार ने उनके विश्वास को भी 'धोखा' दे दिया...या सिनहा के स्वयं के ही सारे 'विश्वास' धोखा खा गए थे...? घोष की पथराई आंखों में सिनहा के अनेक रूप, चलचित्र-से घूम रहे थे...अर्थी कुछ दूर तक कंधों पर चली ...फिर ट्रक पर रख दी गई...घोष ने आंखें मूंदकर हथेलियों से ढंक ली थीं...सिनहा के शव को खुली आंखों से देखकर सह सकना घोष के लिए असह्य हो उठा था।

और, जैसे पंच तत्वों से निर्मित हर मिट्टी का पुतला, हर मानव नामधारी, फिर चाहे वह डॉ० सिनहा हो, चाहे गली-कूचों में कोई सड़ता-गलता, घिसटता भिखारी, मिट्टी से उठकर, सांसों का एक फासला तय कर, अपने हिस्से की नियति, स्थितियों या समय को झेलकर, फिर मिट्टी में ही समा जाता है, डॉ० सिनहा का नश्वर शरीर भी चिता की आग में जलकर राख हो गया...। और सब तो चले गए,पुत्र आशीष तक चला गया, केवल घोष, सिनहा को राख होते, चिता की आग को ठंडी पड़ते, तब तक देखते रहे, जब तक अंधेरी रात के गहन अंधकार में और अधिक देख पाना असंभव हो गया...वैसे आकाश में अनगिन सितारे चमक उठे थे...श्मशान में अर्थियां भी अनवरत लाईं, चिताएं लगातार जलाई जा रही थीं...श्मशान का घाटिया उस दिन खूब व्यस्त और प्रसन्न था...। घोष ने देखा, सुना—शवों की कीमत वसूलता घाटिया अपने पांच बच्चों के हाथ में एक-एक रुपया रखता कह रहा था—"रामजी की दया से आज तो इतनी परापती (प्राप्ति) भई कि बस...! जाओ मिठाई खाओ और अपनी मां से कहो आज हलवा पकाए...!"

शरीरों की चीर-फाड़ करते, देह की नश्वरता को देखते-देखते चिंतक यानी कि फिलॉसफर अर्थात् पागल हो गया है…! दार्शनिकों की एक परिभाषा हम दोनों 'पागल' दिया करते थे…याद है? और फिर कितना हंसा करते थे। अरे, अगर जिंदगी झूठ है, तो फिर सच क्या है…? जिंदगी सबसे बड़ा 'सच' है! मनुष्य का एकमात्र सच! कब की बात है ये? याद है? जब हम इन्टर में क्लासफेलो थे…जब हमारी रगों में यौवन का आत्म-विश्वास से भरा रक्त दौड़ने लगा था…जब हमारी आंखों में किसी खूबसूरत जिंदगी के सपने थे…और जब अचानक हमारी सपना देखती आंखों में नीलिमा दास समा गई थी…हां, हम दोनों की आंखों में एक साथ!

नीलिमा आज तुम्हारी पत्नी है, तुम्हारे तीन प्यारे-प्यारे बच्चों की मां…! नीलिमा आज भी खूबसूरत है…आज भी उसकी काली मछलियों जैसी आंखों में सम्मोहन है, लेकिन शराब-जैसे किसी नशे की नहीं …बस औरत की आंखों का वह 'जादू' है, जो 'प्रेयसी' या पत्नी का 'प्यार' बनकर बांध लेता है…हां, नीलिमा की आंखों में प्यार की तरलता का, मद का नहीं, किसी 'मधु' का जादू था! (देखा, मैंने 'मद' और 'मधु' का कितना सही प्रयोग किया है!) अरे यार, याद है हमने हिंदी में डिस्टिंक्शन पाया था, और बच्चन की मधुशाला को झूम-झूम कर गाता सिनहा कॉलिज में खेले गए 'चित्रलेखा' ड्रामा में 'बीजगुप्त' सिर्फ इसलिए बना था कि 'चित्रलेखा' नीलिमा दास बन रही थी! बीजगुप्त और चित्रलेखा अर्थात् नीलिमा दास और तुम्हारा सिनहा, जयप्रकाश सिनहा!

लेकिन, मैंने देखा मेरी चित्रलेखा के बीजगुप्त तुम थे! मैं तो केवल नाटक-मात्र का बीजगुप्त अर्थात् प्रेमी था। कारण, सुनना चाहोगे…? हां, अब सब कुछ बता देने में हर्ज क्या है, जब नीलिमा पूर्ण रूप से तुम्हारी हो चुकी है…रहेगी। विश्वास कर सकोगे कि नीलिमा के साथ लिए गए तुम्हारे वेडिंग फोटोग्राफ को मैं हमेशा अपने बेडरूम में उस सामने की मेज पर रखता रहा हूं कि रात को आंखें मूंदते और सुबह आंखें खोलते, नजर उसपर पड़े…तुम्हारे फोटो के बगल में मेरा और शकुंतला का

वेडिंग फोटोग्राफ भी चांदी के फ्रेम में सजा रखा रहता रहा है···और शकुंतला मेरी बगल में, मेरे पहलू में, सोई होती है···। शकुन्त, नीलिमा से कम सुंदर नहीं, शकुंतला भी मेरे तीन प्यारे बच्चों की मां है, और मेरी पत्नी के रूप में उसने अपना भरपूर प्यार मुझे दिया है···! और फिर भी कभी-कभी मैं आत्म-विस्तृत-सा सोचता रहा हूं कि काश मेरे पहलू में नीलिमा होती और सामने की मेज पर मेरा और नीलिमा का एक फोटोग्राफ !

यह पढ़ते बुरा लग रहा है दोस्त ! लेकिन बुरा न मानना, मैंने कभी तुम्हारी अमानत में खयानत नहीं की है···कोई ऐसी कोशिश तक नहीं की है। हालांकि, हमारे परिवारों के बीच भी मैत्री संबंध बने रहे हैं, शकुन्त और नीलिमा सहेलियां जैसी हैं, हमारे बच्चे आपस में अच्छे दोस्त हैं···और तुम तो करीब बने ही रहे हो, अभिन्न दोस्त रहे हो।

विश्वास करो, नीलिमा को भी आज तक पता नहीं है कि कभी मैंने उसे पाना चाहा था, उसके सपने देखे थे। लेकिन जब मैं उसके सपने देख रहा था, वह तुम्हारे देख रही थी क्योंकि तुम्हारा व्यक्तित्व, तुम्हारी पोजीशन, जिंदगी में मुझसे बहुत अच्छी थी। तुम एक बड़े बाप के बेटे थे। नीलिमा को प्यार के साथ एक अच्छी आरामदेह जिंदगी के सारे सुख दे सकते थे।

मैंने 'चित्रलेखा' ड्रामा स्टेज करने के बाद एक बार नीलिमा को केवल टटोला था, जानना चाहता था कि क्या उसकी आंखों का सपना मैं बन सकता हूं···?

बीजगुप्त का मेकअप उतारते मैंने धीरे से नीलिमा से पूछा था—"क्या जीवन में मेरी चित्रलेखा बन सकोगी ?"

नीलिमा ने ऐसे आश्चर्य से मुझे देखा जैसे मैंने कोई पागलपन कर दिया हो···! वह भी चित्रलेखा का मेकअप उतार रही थी—जब हम बीजगुप्त और चित्रलेखा का पूरा मेकअप उतारकर आमने-सामने जयप्रकाश और नीलिमा के रूप में बैठे, तो नीलिमा की आंखों में कोई तरलता नहीं थी···उसका दो टूक जवाब था—"आई एम सॉरी जय, लेकिन तुम्हें यह खयाल भी कैसे आया कि मैं तुम्हारी चित्रलेखा बन सकती

हूं ? जानते हो, कितने बड़े बाप की बेटी हूं, और मेरे नाजुक कंधों पर रखा मेरा यह खूबसूरत चेहरा जितना सुंदर है मेरा दिल-दिमाग भी उतना ही सही-सलामत ! यह ठीक है कि तुम्हारे लिए मेरे मन में एक 'सॉफ्ट-कार्नर' है···। लेकिन प्यार-व्यार जैसा कुछ नहीं। प्लीज डोंट बी अण्डर एनी सच मिसअन्डरस्टैन्डिंग ! इस गलतफहमी को भूल जाओ ! मेरा घोष से रिश्ता होनेवाला है, एंड आई लव हिम···! घोष भी मुझसे प्यार करता है, और प्यार के साथ मुझे वह सब कुछ भी दे सकता है, जो मुझे मिलना चाहिए। घोष मेरे बराबर के 'स्टेटस' का है। पर्सनैलिटी से लेकर पोजीशन तक में···और प्यार और शादी बराबर वालों में ही निभते हैं, निभ सकते हैं ! मेरी साफगोई से अगर तुम्हें कोई चोट लगी हो तो माफ कर देना···और कभी मेरे करीब आने की कोशिश मत करना···हां, हम दोस्त बने रह सकते हैं, बस !"

और सचमुच, नीलिमा ने एक सही प्रैक्टिकल निर्णय लिया था··· फिर सचमुच तुम्हारे साथ उसका विवाह हुआ, वह प्रेयसी से पत्नी, पत्नी से तुम्हारे बच्चों की मां बनी···और तुम सचमुच सुखी दंपति रहे आए ! ऐसे दाम्पत्य के लिए तुम्हें हृदय से बधाई देता रहा हूं···आज भी दे रहा हूं—अंतिम बार।

लेकिन दोस्त मेरे, मुझपर विश्वास करो, मौत के सामने खड़ा व्यक्ति झूठ नहीं बोलता···नीलिमा से उस दिन के पश्चात् मैंने कभी उस संबंध में बात तक नहीं की···न नीलिमा मेरा कोई 'फ्रस्ट्रेशन' है, न मेरी आत्महत्या से नीलिमा का कोई संबंध है···न मैंने, न नीलिमा ने तुम्हें कोई धोखा दिया है···। हां, यह बात जरूर है कि इन क्षणों भी मुझे चित्र-लेखा बनी नीलिमा याद आ रही है, वह नीलिमा नहीं जो मिसेज घोष है···बस, समझ लो, जैसे कोई किसी फूल को टहनी पर खिला रहने देने की कामना करता है···बस, उसके रूप और गंध पर मुग्ध होता है ···मुग्ध बना रहता है ! एक बात बताऊं दोस्त, मैं किसी फूल को तोड़कर कभी 'बटनहोल' में नहीं लगाता, मुझसे फूलों को डाल से तोड़ा जाना ही सहा नहीं जाता···पहले शकुन्त मेरे इस काम्प्लेक्स पर हंसती थी, अब बच्चे हंसते हैं···मेरे 'लॉन' में लगे फूल खिलते हैं, मुरझा

जाते हैं, मेरे माली को इजाजत नहीं है कि वह उनका गुलदस्ता बनाकर पेश करे। हां, अब शकुन्त तो नहीं, लेकिन आभा और अंजली कभी-कभी चोरी से गुलाब तोड़कर केशों में सजा लेती हैं···मैं समझ तो जाता हूं कि ये मेरी बगिया के ही गुलाब हैं, क्योंकि मेरे कुछ कहने के पूर्व ही आभा और अंजली बताने लगती हैं—"पापा, हमने आपके गुलाब नहीं लिए। वो तो···हम उन आंटी के घर गए थे न, तो उन्होंने···" फिर वे हकला जाती हैं। शकुन्त, उनकी मम्मी, एक मुसकान को होंठों में दबा लेती है··· इधर देख रहा हूं कि आभा और अंजली रोज कोई न कोई फूल चोटी या जूड़े में सजाने लगी हैं···और अब कोई एक्सप्लेनेशन भी नहीं देतीं···। बात इतनी छोटी है कि इसका जिक्र भी मेरा पागलपन कहा जाएगा। लेकिन पेशे से डॉक्टर, सर्जन होकर भी मैं फूलों का अपने इस रिश्ते का ऑपरेशन नहीं कर सका, यद्यपि धीरे-धीरे यह 'घाव' बनता गया···अब बहुत दर्द करने लगा है।

खैर, तो मैं बता रहा था कि नीलिमा के उन दो टूक जवाब ने, मेरे मन में पनपती सुकोमल भावनाओं की व्यर्थता इतनी अच्छी तरह सिद्ध कर दी, मेरी आंखों से आकाश के सितारों के सपनों को इतनी अच्छी तरह ठिकाने लगा दिया, कि मैं भी बिलकुल प्रेक्टिकल हो उठा—प्यार की भावना, मेरे लिए एक नासमझबयानी बन गई···जिंदगी में पैसा, पोजीशन आदि की सार्थकता ने मेरे कदमों को ठीक दिशा दे दी···मैं जी-जान से डॉक्टर बनने के लिए जुट गया।

उसके पूर्व भी अपनी मां के संदर्भ में, मेरा बचपन घायल हो चुका था। मां बहुत सुंदर थी। मेरे पिता जिंदगी में ऐश चाहते थे, पैसा चाहते थे···पिता स्वादिष्ट भोजन, कीमती कपड़ों और शरीर के अन्य सुखों के लिए किसी भी सीमा तक जा सकते थे। मां गरीब घर की, एक तरह से खरीदी गई बेटी थी। पिता उम्र में उनसे दस वर्ष बड़े थे और पिता की पहली पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी। लोग कानाफूसी करते थे कि उस औरत को मेरे पिता ने इसलिए मार दिया कि वे दूसरा विवाह कर सकें, इतनी खूबसूरत लड़की से, जिसे वे शतरंज के मोहरे की तरह चलकर जिंदगी की बाजी जीत सकें। सुना, उन्होंने मेरे न

दस हज़ार दिए थे, मेरी मां को पाने के लिए। मेरा जन्म, विवाह के एक वर्ष के भीतर ही हो गया था।

जब मैं तीन-चार वर्ष का अबोध था, तब प्रायः रात को मां की दबी-दबी सिसकियां सुनता। वे मुझे कलेजे से चिपकाकर रोती रहती··· प्रायः मैं पिता की चीख-पुकार से जाग जाता···देखता, वे मां को तावड़-तोड़ पीट रहे हैं···मैं बीच में आता तो वे मुझे उठाकर पटक देते ···मां की देह पर चोटों के कई निशान थे, जिन्हें वे छिपाए रखतीं··· पूछता तो कहतीं—"ये निशान तो जन्म से हैं बेटे !"

मैं और बड़ा हुआ। सात-आठ वर्ष का था तो देखता था किसी-किसी रात मां दर्पण के सामने बैठी, शृंगार करती होती, और इतना रोती होती कि उसकी हिरनी जैसी आंखों में काजल की धार खिंची होती, किन्तु आंखों के डोरे इतने रक्तिम होते कि मैं भी रोने लगता—"मां तुम्हारी आंखें इतनी लाल क्यों हो जाती हैं ? लोग कहते हैं ज्यादा रोने से आंखें अंधी हो जाती हैं।"

मां मुझे खींच कर वक्ष से सटा-सटा लेती—"न मेरे लाल, मैं अंधी नहीं होऊंगी, और मैं रोती थोड़े ही हूं···काजल लगाती हूं तो पानी झरने लगता है···"

"तो काजल मत लगाया करो···" मैं कहता।

"नहीं बेटा, काजल तो मुझे लगाना पड़ेगा, तुम्हारे पिताजी यही चाहते हैं कि मेरी ये सुंदर आंखें इतनी सुंदर लगे कि···" और वे चुप हो जातीं।

फिर उस रात मैं अलग सुलाया जाता। मां किसी और कमरे में होतीं। पिताजी मेरे पास सोते होते और मुझे खूब-खूब प्यार करते कहते —"आज तुम्हारी मां की तबियत ठीक नहीं है। उसे आराम करने दो··· आओ तुम्हें भी कहानी सुनाऊं ? किसकी सुनोगे, रामजी की, कृष्णजी की या बन्दर, भालू, शेर की, या भूतों की ?···मुझे ढेर सारी कहानियां आती हैं। मुझे लगता कि शृंगार की हुई मां सजी-धजी मां की तबियत इतनी खराब कैसे हो सकती है···जरूर कोई और बात है···मुझे पिता 'भूत' जैसे लगने लगते···मैं सहमकर, डरकर, सो जाता—'मुझे कोई

कहानी नहीं चाहिए, मां चाहिए···' इसके जवाब में मुझे पिता का एक करारा झापड़ पड़ जाता···पिटाई के डर से, ऐसी रातों में मैं सहमकर चुपचाप सो जाता।

हां, याद आया, एक-दो बार आधी रात को मेरी नींद उचट गई। बगल में पड़े खर्राटे भरते पिता मुझे किसी राक्षस जैसे लगे...मैं कांपता उठा कि मां के पास चुपचाप जाकर सो जाऊं···मां के कमरे तक पहुंचा भी, देखा मां बिस्तर पर किसी और आदमी के साथ, अस्त-व्यस्त पड़ी है—बेहोश-सी···मैं और कांपने लगा···तभी पिता के 'पर्सनल सेक्रेटरी' जैसे नौकर हरीराम ने मुझे गोद में दबोच लिया, गुर्राता-सा बोला—"ए भैया ! चुपचाप जाय के बाबूजी के पास सो जाओ···ऐसन में मां जी के पास न जाओ, नाहीं तो इत्ता पिटोगे कि हड्डी-पसली एक हो जाएगी।" और उसने फिर पिता की बगल में सुलाते ऐसी राक्षसी आंखों से देखा कि मैं कांपता-सहमता सोचता रह गया कि ये हरीराम की आंखें हैं या पिताजी की···? पिताजी की या हरीराम की···? पिताजी और हरीराम की राक्षसी आंखें मेरी अबोध चेतना में एक हो जाती थीं···और मैं पिटने से बहुत डरता था, अतः चुप रह जाता रहा।

शायद मेरी पन्द्रहवीं वर्षगांठ थी। मां ने उस दिन मुझे खूब-खूब प्यार किया था ! पिता की हैसियत तब तक काफी अच्छी हो चुकी थी। उन्होंने एक मकान बनवा लिया था, खूब बड़ा-सा। एक हजार रुपये महीने किराए के आने लगे थे। स्वादिष्ट भोजन बनता था। पिताजी सिल्की धोतियां और सिल्क का कुर्ता पहनते थे। एक नौकर, रसोइया और महरी घर का सारा काम करते थे···। लेकिन मां दुबली पड़ने लगी थी···कभी-कभी बहकी बातें करने लगी थी···उनके होंठ कांपने लगते थे।

पिताजी मेरे सामने मां से कहते—"अब तो किस चीज की कमी है अब तुम्हें ? चैन से खाओ, पियो, सोओ···। अब तो तुम्हें पलंग के नीचे पैर रखने की भी जरूरत नहीं···"

पलंग के नीचे पैर नहीं रखूंगी, बस, अब चैन से सोऊंगी ही···" फिर मां ने मुझे वक्ष में इतना भींचा कि मैं चकरा गया, मेरी दुबली-पतली सुकुमारी मां में इतनी ताकत कहां से आई कि मैं उसके आलिंगन में दब गया।

"तुम्हारी मां की तबियत ठीक नहीं है जय, आज उन्हें आराम करने दो। और जय की मां, शायद तुम इसलिए नाराज़ हो कि मैं केवल माला लाया, कल पूरा सेट ले आऊंगा···" पिताजी ने एक पैशाचिक-सी हंसी हंसते कहा।

मां ने होश खोई, जलती आंखों से पिता को देखा···कुछ देर एकटक देखती रही फिर दौड़कर अपने सोने के कमरे का दरवाज़ा अंदर से बंद कर लिया—"मुझे सोने दो···" उसके अंतिम शब्द थे।

दूसरे दिन मां देर तक नहीं उठी तो दरवाज़ा तोड़ा गया। मां सचमुच सदा के लिए सो चुकी थी···सोलह श्रृंगार किए,···आंखों से झरे आंसुओं के निशान सारे मुख पर सूखकर जम गए थे···मां ने अफीम खा ली थी।



पिता ने धूमधाम से मां का दाह-संस्कार किया, चिता की लकड़ियों में चंदन के टुकड़े भी डाले, घी से चिता प्रज्वलित की—"जय की मां देवी थी!" श्मशान में वे चीख-चीखकर छटपटाते रहे। "पता नहीं, मेरी देवी ने ऐसा क्यों किया···मुझसे भी नहीं कहा कि उसे क्या कष्ट था? अरे, मैं उसके लिए जान दे देता···उसने अपनी जान क्यों दी?" पिता बेहोश होने का सफल नाटक कर रहे थे। लोगों की भीड़ उन्हें सांत्वना दे रही थी··· मैं दूर खड़ा मां की धधकती चिता को अपलक देखता रहा था···मेरी आंखों में एक भी आंसू नहीं था। एकाएक मैं सब कुछ समझ गया था··· उस नंगी 'सच्चाई' को जिसे पिता ने रेशम का कफन उढ़ाया था। हां, मेरी आंखों में एक भी आंसू नहीं था। पिता छाती पीट-पीट कर रो रहे थे, मेरी तरफ इशारा करते कह रहे थे—"अरे सगी मां थी इसकी, लेकिन आजकल के लड़कों को माया-ममता कहां···एक आंसू है इसकी आंख में?···"पिता को सांत्वना देती भीड़ मुझे धिक्कारने लगी थी···।

मैं एक महीने के लिए अपनी ननिहाल चला गया···। पिता को देखते

तो मुझे लगता, मैं भी पागल हो जाऊंगा, मां-बाप की तरह अजीब सा लगता…। फिर मैं हॉस्टल में रहने लगा। पिता पढ़ाई और हॉस्टल का खर्च नियमित भेज देते। मनीआर्डर फॉर्म पर लिखा होता—'खूब मन लगाकर पढ़ना जा बेटे! मुझे तुमसे बहुत आशा है!" मैं पढ़ने में बहुत डिस्टिंक्ट था और पिता रहते फीस-किताबें भेजते थे कि कम ही जोश रह-कर, पढ़ गया। किन्तु मेरे दोस्त मुझे बधाइयां देते—"यू आर फार-च्यूनेट यार! तुम्हारे फादर कैसे तुम्हें बिलकुल नियम से रुपये भेज देते हैं…। नहीं तो पेरेन्ट्स क्या कम सताते हैं।" इन बधाइयों को सुनके मेरे मन में मां की चिंता फिर उछलने लगती…लेकिन जैसे मां चुप रही आई थी,…मैं भी चुप रहा आया।



डा० घोष, डॉक्टर बनते-बनते, मानव शरीर के आकृति-प्रकृति सम्बन्धी हर अंग के रोगों और उपचार का अध्ययन करते-करते मैं, मानव-मन के उन अंधेरे तहखानों के भी अनेक रहस्य जान चुका था…सबसे प्रमुख रहस्य था कि मानवीय संबंधों का, पर मानवीय अस्तित्व का एक पहलू 'सिक्के' होते हैं, डा० घोष पहले ये सिक्के सोने या चांदी के होते थे…अब कागज के टुकड़े होने लगे हैं…। शरीर, मन और आत्मा, इन सिक्कों की तुला पर तोले जाकर, निहायत बेमानी सिद्ध हो जाते हैं। अभी कुछ पहले मैंने लिखा था…एक मानवीय अस्तित्व का एक पहलू 'सिक्के' होते हैं… और आज एक पूरी जिन्दगी जीने के बाद, उस 'एक' को 'एकमात्र' कहने को जी चाह रहा है…और मेरा जीवन-भर का मेरे शब्दों में साक्ष्य बनता है कि भौतिक, अनुभव बहुत सारों की तुलना में मुख्य 'अस्तित्व' सिद्ध होकर रह जाते हैं…जो भाव का मूल्य नहीं का होता है, वह क्या मूल्यों के रूप-रंग और स्वाद का हो सकता है…? नहीं न!

देखा दोस्त मैं इतने वर्षों बाद भी 'सिजोफ्रेनिया' वाले वीभत्स
रिजनों प्रारम्भ, सायंस, कुछ मातृभाषा बोध का लिख सकता हूं…
मेरे जीवन विदेशी भाषा अंग्रेजी में 'प्रेक्टिशनर' लिखता रहा हूं।
मैं ही पढ़ना-लिखना रहा हूं…डा० घोष, जैसे सारे जीवन अंग्रे

व्यवहार में लेकर भी मैं अपनी मातृभाषा के 'अपनेपन' को नहीं भुला पाया...उसी प्रकार शायद डा० जे० पी० सिनहा जीवन-भर प्रयास करके भी पागल 'जय', उस पागल 'जय' को नहीं भूल सके...जो आज सचमुच पागल हो उठा है...। और यह पागल हो उठा 'जय', डॉ० जे० पी० सिनहा के 'छद्मों' से मुक्ति चाह रहा है...जानते हो कितना बैंक-बैलेन्स है मेरा? अंक नहीं बताऊंगा...अंक के आगे सात शून्य जोड़ लो, बस...! और फिर आठवां शून्य मेरा अस्तित्व मान लो...अंक मिट जाए तो शून्य—मात्र शून्य रह जाते हैं न! हां, लो मैं अपना अंक मिटाए दे रहा हूं...हा-हा-हा...आज जी भर कर हंसने को जी चाह रहा है...तुम्हारा जय आज पागल नहीं हो उठा है, आज ही तो सचमुच होश में आया है...! जीवन-जगत के छद्मों से, जीवन-भर स्वयं को छलता या छले जाने देता...आज ही तो उस 'सत्यबोध' से साक्षात्कार कर रहा है...जो उसके जीवन-भर के अनुभवों का निष्कर्ष है...सारे छद्मों की सच में परिणति है...। फिर याद आ रहा है—अफीम खाकर मरी मां की देह को, रेशम का कफन उढ़ाते, पिता ने मां के क्षत-विक्षत, चिथड़े-चिथड़े हो उठे 'सच' को, 'झूठ' का रेशमी कफन उढ़ाकर कैसी आसानी से मुक्ति पा ली थी...कैसी सफलता से सारे संसार को धोखा देकर निर्दोष सिद्ध हो गए थे...और लोग 'सच' को जानते भी पिता के 'झूठ' को स्वीकार कर रहे थे...! क्यों? क्योंकि पिता सिक्कों के भार से 'भारी' हो हो उठे थे...अर्थात् बड़े आदमी हो उठे थे...और ऐसे एक बड़े आदमी के सामने हज़ारों छोटे आदमी सिर झुकाते ही हैं...मैंने कहा न, सिक्कों की वजन की तुलना में, मानव के मन-प्राण-आत्मा के वज़न हलके ही ठहरते हैं...देखो न, मैं स्वयं के ही संचित किए सिक्कों की तुलना में स्वयं के ही समक्ष कितना 'अकिंचन' हो उठा हूं...!

●

मां, पिता, मैं, नीलिमा, तुम और फिर शकुन्त...। शकुन्त तक पहुंचते-पहुंचते ही मैं काफी थक चुका था...तुम फिर कहोगे—"अमां यार! २७ वसंत देखते सर्जन हो गया तू और वो भी इतने गजब का कि मानव अंगों को डब्बे की तरह खोलता है, संवारता, सुधारता है और फिर

सारा सामान ठीक से 'पैक' कर देता है [illegible]
के द्वार से लौटा लाने लगा था। हां, [illegible]
द्वार से लौटा लाने लगा था मैं ! '[illegible]
है यार !" तुम मेरी पीठ ठोंक देते [illegible]
रहा था···और मेरे लिए रिश्ते पर रिश्ते [illegible]

पिता मुझसे पुराने [illegible] का [illegible]
मैं वीतराग-सा दिए जाता···[illegible]
हो···! किंतु उनकी लार टपकती [illegible]
रिश्तों में वे सौदेबाजी की टांग अड़ाने [illegible]
[illegible] आया···शकुन्त को मैंने स्वयं पसंद [illegible]
विवाह कर लिया···एक बार लगा कि [illegible]
अंजली भर ली है···। मैं उन फूलों [illegible]
रहा था कि देखा मेरी नव-परिणीता की [illegible]
बड़े मोती टपक रहे थे, जैसे मोतियों का हार [illegible]
पहने थी···शीशफूल के मोती तो उनकी [illegible]

शकुन्त मेरे वक्ष से सटी सिसक रही थी, '[illegible]
"आपसे कुछ नहीं छिपाऊंगी, सब बता दूंगी···[illegible]
राजेन्द्र से प्यार करती रही···वह भी [illegible]
···लेकिन, वह साधारण परिवार का लड़का था [illegible]
वार का हूं। जब आपका रिश्ता आया तो मां ने [illegible]
मनाया—'मान जा री, शकुन्त तू राज करेगी।'

"राजेन्द्र की आंखों से भी आंसू बह रहे थे—[illegible]
छोड़ जाओगी···?' किंतु, मां के आंसू, राजेन्द्र के [illegible]
और मैं आपकी हो गई···विश्वास कीजिए, मैं सदा [illegible]
आपको कभी धोखा नहीं दूंगी···"

फिर, मेरे आलिंगन में कभी, मेरे पार्श्व में सटी [illegible]
रही थी—"मुझे बड़ा-बड़ा जेवर और रेशमी साड़ियों का [illegible]
मेरी बड़ी दीदी का ब्याह भी बहुत बड़े घर में हुआ है [illegible]
उम्र अधिक है तो क्या हुआ, दीदी महारानियों की तरह [illegible]

है···। इसी वर्ष गर्मियों में जीजाजी उसे कश्मीर ले गए···। वे लोग तो हर साल किसी-न-किसी हिल-स्टेशन पर जाते ही हैं···मसूरी में तो बंगला ही ले रखा है। दीदी के दोनों बच्चे भी तो मसूरी कॉन्वेंट में पढ़ रहे हैं···। दीदी, मुझे बड़ी नीची नज़र से देखने लगी थी न,···लेकिन आपके मुकाबले में जीजाजी क्या हैं···! मुझे आप पर गर्व है, मैं बहुत सौभाग्यशालिनी हूं जो आपने मुझे अपनाया···!" और बी० ए० ऑनर्स शकुन्त स्वयं मुझसे और अधिक सट गई थी···। प्रकृति के नियमानुसार हमारे यौवन के रक्त को उष्ण होना ही था···हमारे शरीरों को एक···! किंतु, शकुन्त को भी क्या पता था कि मुझे पहली रात से ही वह उष्णता नकली लगने लगी थी···किसी सौदे-सी···जो शकुन्त ने अपनी मां की आड़ से मुझसे किया था···एक आरामदेह ज़िन्दगी के लिए, राजेन्द्र के असुविधाओं से भरे प्यार को ठुकरा दिया था। 'प्यार' भी ज़िन्दगी की सुविधा-असुविधा की तुलना में कितना हल्का ठहरता है··· फूलों की तुलना में मोती भारी पड़ते ही हैं!

पार्श्व में लेटी शकुन्त और तुम्हारे पार्श्व में लेटी नीलिमा मेरे खयालों में गड्डमड्ड होने लगतीं···नीलिमा और शकुन्त···पिताजी और हरीराम, जैसी एक होने लगतीं···नहीं, नहीं, पिता और हरीराम तो निश्चय ही नर-पिशाच थे···। किंतु चित्रलेखा जैसी नीलिमा और नीलिमा से अनेक अर्थों में बीस ही ठहरती शकुन्त···। मानोगे न दोस्त कि शकुन्त में, नीलिमा से ज़्यादा रूप और यौवन था···शकुन्त सितार भी बहुत अच्छा बजाती थी···बहुत मीठा गाती थी···उसे पाकर मुझे पूर्ण तुष्ट हो जाना चाहिए था···मैं तुष्ट होने का प्रयास कर भी रहा था–व्यावहारिक धरातल के स्थूल सुखों को बटोरना, भोगना सीख रहा था कि एक दिन अचानक शकुन्त के नाम एक पत्र आया—

'कालिदास के दुष्यंत ने शकुन्तला को भुला दिया था···मेरी शकुन्तला ने अपने दुष्यंत को यानी कि मुझे ठुकरा दिया···जा रहा हूं वह नींद सोने, कि कभी न जागूं···जागता हूं तो अपनी शकुन्तला को यह अभागा दुष्यंत पल-भर के लिए भी तो नहीं भूल पाता···फिर भीतर कहीं ऐसा दर्द उठता है कि पागल होने लगता हूं···तुम्हारे सुखी जीवन

के लिए शुभकामनाओं सहित—राजेन्द्र···तुम्हारा ठुकराया प्यार !'

शकुन्त ने आंसू बहाते, बड़ी निर्दोषता से पत्र मेरे हाथों में दे दिया···राजेन्द्र के शव का पोस्टमॉर्टम मुझे ही करना पड़ा था, उसने मरकरी खा ली थी···।

शकुन्तला उसे याद कर बड़ी निर्दोषता से आंसू बहा लेती —' राजेन्द्र सचमुच पागल ही हो गया होगा···! वरना क्या उसकी शादी नहीं होती···अच्छा-खासा था···बराबरवालों में रिश्ता मिल ही जाता···क्या राजेन्द्र के लिए सुंदर, सुशील लड़कियों की कमी थी ?"···साड़ियों से मैच करते जेवर पहनती शकुन्त मुझे पूरा प्यार, तन-मन के सारे सुख, अपने अनुसार' पूर्ण निर्दोषता एवं निश्छलता से दे रही थी···इसका 'दावा' उसे आज भी है।

मैंने हजारों शवों के पोस्टमॉर्टम किए होंगे···किंतु राजेन्द्र का 'पोस्टमॉर्टम' जैसे मेरा अपना 'पोस्टमॉर्टम' था · छुरे की धार-सी कोई सच्चाई मेरे अन्तरतम में धंस गई थी···और धंसी रह गई थी···मेरी धड़कनें उस बूंद-बूंद रिसते रक्त से जीवन-भर चुपचाप भीगती रही हैं···रक्त-रंजित होती रही हैं···।



मां से नीलिमा तक, नीलिमा से शकुन्त तक पहुंचने में तो फिर भी काफी समय लगा। शकुन्त से विवाह के समय मेरी उम्र सत्ताईस वर्ष रही होगी···अब मैं सत्तावन का हूं···किन्तु ये तीस वर्ष जैसे एक छलांग में बीत गए···!या कहूं, इन तीस वर्षों में, मैं धूप ही धूप की सीढ़ियां चढ़ता रहा···प्रत्यक्ष में प्रसिद्धि, वैभव, सुख, सम्मान की सीढ़ियां ··। किन्तु यह कौन जानता है कि ऊपर जिन चार सीढ़ियों का नाम मैंने लिया है, वे मुझे अप्रत्यक्ष रूप से उन अंधेरे तहखानों की भी प्रतीत होती रही थीं, जो मानव-मन के उस फांसी-घर की ओर ले जाती हैं, जहां फूलों के रूप-रंग और गंध को फांसी दी जाती है···जहां 'फूल' मर जाते हैं,– सुगंध और उजालों के फूल···! हां धोप, फूलों को सहज प्राकृतिक धूप, हवा और वर्षा चाहिए···उन्हें सोने-चांदी की मिट्टी और खाद नहीं, धरती की सोंधी गंध भरी माटी और उस मिट्टी के ही प्राणवान् तत्त्वों की खाद

चाहिए…नीले, घनघोर मेघों से झरती वर्षा की फुहार चाहिए ! नीले-कजरारे मेघ…! घोष ! यार ! इस बार तो मेघों की उपमा से फिर नीलिमा के नीलिमा लिए नयन या शकुन्त की कजरारी आंखें याद आ रही हैं…जिनसे फुहारें झरती तो रही हैं, किन्तु रस की नहीं, उन 'कैमिकल्स' की, जो उपजते नहीं, जो मन-प्राण या आत्मा से निःसृत नहीं होते, जो कृत्रिम वर्षा जैसे कृत्रिम होते हैं…आह ! यह कृत्रिमता…यह झूठ, यह अवास्तविकता…! किंग माइडस के समान, मैं भी तो इसलिए मर रहा हूं कि मुझे खाने के लिए, अन्न की रोटियां चाहिए, सोने की नहीं…!

तो तीस वर्षों तक निरंतर धूप की सीढ़ियां चढ़ता, किन्तु वास्तव में अंधेरे तहखानों की सीढ़ियां उतरता, मैं पिछले तीन सप्ताहों में ही फांसी के तख्ते पर स्वयं जा खड़ा हुआ हूं…और सचमुच, फांसी का फंदा गले में डालने ही जा रहा हूं।

मेरा पुत्र आशीष डाक्टर बन चुका है—हार्ट स्पेशलिस्ट ! प्रेक्टिस भी करने लगा है। मैं जानता हूं, उसका एक लेडी डाक्टर, जो उसकी क्लासमेट थी और अब एक लेडी डाक्टर है, से 'अफेयर' भी चल रहा है। हो सकता है, वे विवाह कर लें। हो सकता है, वे कभी विवाह के बंधन में न बंधे—। आशीष को मैं जानता हूं—वह हर सामान, अर्थात् 'प्रेम और सेक्स' एक ही दूकान से खरीदनेवाला ईमानदार खरीददार नहीं है…"आई बिलीव इन नो टेबूज…!" वह बेझिझक कहता है और मेडिकल प्रेक्टिस के साथ अपनी इस फिलॉसफी की भी प्रेक्टिस कर रहा है।

तो घोष, बस अब तुम्हें बहुत ज़रा-सा सुनना है…बस, समझ लो एक नाटक का अंत देखना है…उस नाटक का, जिसे सुखांत होना चाहिए था…किन्तु जो 'दुखांत' होने जा रहा है…कदाचित् मानव-जीवन की 'एटर्नल ट्रेजेडी' भी तो दुःख ही है…। सुख तो केवल मरीचिका होता है…जिसके पीछे पागल मृग-सा दौड़ता मनुष्य दम तोड़ देता है…किन्तु मरीचिका के पानी का भ्रम तो भ्रम ही होता है न! पानी के भ्रम से तो प्यास बुझाई नहीं जा सकती…ठंडे-मीठे पानी की घूंटों के अभाव की पूर्ति तो दूध या शराब भी नहीं कर सकते…प्यास बुझाने के लिए तो 'जेनुइन' पानी ही चाहिए…'जेनुइन' पानी शायद मेरे इस विचित्र प्रयोग पर

तुम्हें इन गंभीर क्षणों में भी हंसी आ जाए···तो जरूर हंस लेना दोस्त, मेरे पागलपन पर···मुझपर भी मैं जो विज्ञान का विद्यार्थी रहा, फिर विज्ञान के बल पर ही, निरंतर विजय की सीढ़ियां चढ़ता रहा, किन्तु कदाचित् जो धीरे-धीरे उसी 'जेनुइननेस' के नाम पर पराजित होता रहा···भीतर ही भीतर हारता गया···टूटता गया···

हां तो, तीन सप्ताह पूर्व, मैंने सचमुच एक नाटक किया—दिल के दौरे का ! नाटक सफल रहा। मैं स्वयं सफल डाक्टर हूं, आशीष तो हार्ट स्पेशलिस्ट है ही···मुझे दिल का दौरा-वौरा कुछ नहीं पड़ा था—आई जस्ट प्लेड इट ! आशीष ने तत्परता से मुझे अटेंड किया···! सारा घर स्तब्ध, आशंकित हो उठा। बेहोशी के नाटक के बाद जब मैं होश में आने का नाटक कर रहा था तो सुना, आशीष अपनी मां से कह रहा था—"अभी तो माइल्ड अटैक है मम्मी, पापा बच जाएंगे, लेकिन दूसरा अटैक सीरियस हो सकता है···" मैंने कराह कर करवट ली, आशीष व्यग्रता से मुझ पर झुका—"डोंट स्ट्रेन योर सेल्फ पापा, यू नीड कम्पलीट रेस्ट। आई विल अरेन्ज फॉर इट !" एक वफादार बेटे की तरह कह रहा था··· जब कि वह जानता था कि मुझे अटैक हुआ ही नहीं है, हम दोनों एक नाटक कर रहे थे···अपनी-अपनी भूमिका बड़ी सफलता से निभा रहे थे।

एक सप्ताह बाद, एक सुबह आशीष और शकुन्त मेरे पास आए—मेरा पुत्र और मेरी पत्नी। आशीष ने मुझे 'स्टेथेस्कोप' से जांचा, नब्ज देखी, शकुन्त ने मुझे अपने हाथों से सेब का रस पिलाया।

और मैंने सुना आशीष कह रहा था—"पापा, आप तो खुद इतने काबिल डाक्टर हैं, अपनी 'कन्डीशन' जानते होंगे···ये 'अटैक' तो बहुत माइल्ड था···लेकिन दूसरा खतरनाक हो सकता है···इसलिए मैं चाहूंगा, मम्मी भी चाहती हैं कि आपका विल···" आशीष वाक्य पूरा नहीं कर सका···मैं अट्टहास कर उठा था···ठठाकर हंस रहा था। आशीष और शकुन्त हतप्रभ से मुझे देखते रह गए थे···सिटपिटाए-से जाते आशीष से मैंने कहा था—"डाक्टर आशीष ! मेरे बेटे, मैं समझता हूं, तुमसे तुम्हारी डिग्री वापस ले लेनी चाहिए !"

आशीष चला गया था ! शकुन्त मेरे सिरहाने आ बैठी थी। मेरा

सिर गोद में रखकर सहलाने लगी थी। मेरा मस्तक चूमकर वैसी ही आंसू-भरी आंखों से मुझसे कह रही थी, जैसे प्रेमी राजेन्द्र का वह पत्र मेरे हाथों में देते, उसने वर्षों पूर्व कुछ कहा था—"शायद तुम रात ठीक से सोए नहीं···कोई तकलीफ है क्या ?···"

"तुम्हें क्या लगता है, मुझे कोई तकलीफ है क्या ?···" मैंने शकुन्त की आंखों में सीधे देखकर पूछा।

शकुन्त ने आंखें झुका लीं—"अब तुम्हारे मन की बात मैं कैसे जान सकती हूं? मुझसे जीवन-भर तुम्हें जो देते बना, देती रही हूं···इस समय भी हर सेवा के लिए तैयार हूं···तुम जो बोलो···" शकुन्त का आर्द्र स्वर बिलकुल धीमा हो गया—"पता नहीं, तुम आशीष पर क्यों नाराज हो गए ? वह ठीक ही तो कह रहा था। भगवान करे तुम पूरे सौ वर्ष जिओ, लेकिन···अच्छा, यदि तुम 'विल' लिख रहे हो, तो मेरा हिस्सा साफ-साफ अलग कर देना···मैं आशीष पर आश्रित नहीं रहना चाहती···और जीवन-भर तुम्हारे प्रति सच्ची बने रहने के प्रतिदान में मैं अपने लिए भी तुमसे भरपूर चाहती हूं···मुझे विश्वास है, तुम मुझे दोगे, भरपूर दोगे···। देते रहे हो···जाऊं, तुम्हारे लिए पौरिज अपने हाथ से बना लाऊं, कुक तो सत्यानाश करके रख देता है···और कुछ खाना चाहोगे···?" शकुन्त बड़ी आर्द्र दृष्टि से देखती, बड़ी कोमलता से कह रही थी। जाते-जाते पैड और पेन मुझे देती गई—"तुम चाहो तो विल का एक रूप तैयार कर लो, फिर अपने दोस्त एडवोकेट खन्ना को ही बुला लेना, शाम को चाय पर ···तुम्हें 'कंपनी' भी मिल जाएगी, विल की लिखा-पढ़ी भी हो जाएगी··· और खन्ना तुम्हें स्ट्रेन भी नहीं होने देंगे···"

और, शकुन्त के दिए पैड पर पेन से मैं यह पत्र तुम्हें लिखता रहा हूं ···शकुन्त आते-जाते संतुष्ट-सी मुझे देखती रही है कि मैं 'विल' तैयार कर रहा हूं···मैंने उससे कह दिया था—"खन्ना को परसों बुला लेना, तब तक मैं सब कुछ बिलकुल ठीक से तैयार कर लूंगा···!" शकुन्त तो यह सुनकर मुझसे लिपट गई थी, आशीष ने भी झुककर मेरे पैर चूम लिए थे—"रियली माई पापा इज ग्रेट !"

दूसरी रात आभा और अंजली के बेड-रूम में धीमे-धीमे बातचीत की

आवाज, आधी रात के सन्नाटों में गूजने लगी तो मैं उठा, सुनी खिड़की से देखा भी, सुना भी, मेरी आखों में नींद कहां थी···। मन में चैन भी कहा था···! आभा और अंजली, मेरी दो खूबसूरत बेटियां, मौनिटर कैम्ब्रिज में पढ़ती, शिफॉन और जार्जेट पहनतीं, पौरिज और आमलेट खाती, पिक्चर देखती, पिकनिक मनाती, कार में आती-जातीं···एक दूसरी से कह रही थीं—"सुना, पापा, 'विल' करने जा रहे हैं, तो हमारा हिस्सा ···? आशीष भाई हमें कुछ भी क्यों देने लगे···? ही विल ट्राई टु प्रूव एज मच एज़ पासिबिल···और ममी भी अपनी जगह हैं! देखती नहीं, आज भी तीन साड़िया लाती हैं तो सबमें अच्छी अपने लिए रख लेती हैं···तो हमें भी पापा के गले में लिपटकर अपनी बात कह लेनी चाहिए कि 'विल' में हमारा हिस्सा···ऑफ्टर आल वनी हैज इटस ओन वैल्यू···मान लो, पापा न रहें तो हम कहीं के न रहेंगे। कल हम भी पापा से बात करेंगे ···ही हैज बीन मच ए लविंग फादर···वे हमारी जरूर सुनेंगे···।" आभा और अंजली एक दूसरी से लिपटकर सो गई थीं···वैसे भी जुड़वा हैं न! सदा, हर स्थिति में साथ रहती हैं, एक जैसा व्यवहार करती हैं।

नींद में डूब गए, आभा और अंजली के फूल जैसे चेहरों को भरपूर देखकर मैं अपने बेडरूम में लौट आया हूं···और फिर रात भर यह पत्र तुम्हें लिखता रहा हूं···

आज तीसरी और अंतिम रात है···पत्र लिखकर तुम्हें पोस्ट कर चुका हूं। मेरा विल भी पत्र के साथ है, देख लेना···और फिर आशीष और शकुन्त, आभा और अंजली को अपने होंठों से ही सुना देना···हा··· हा···हा···हा···! इतनी हंसी आ रही है दोस्त कि अपने ठहाके को रोकना मुश्किल हो रहा है···इसकी कल्पना करके कि 'विल' सुनते आशीष और शकुन्त के, आभा और अंजली के खूबसूरत चेहरों से सारे नकाब, सारा मेकअप उतर जाएगा···और ये मेरे 'नियर एण्ड डियरमोस्ट' चेहरे बेनकाब होकर कितने हास्यास्पद हो उठेंगे! तुम अपनी आखों से देख लेना···वे चारों उजले चेहरे स्याह हो उठेंगे और फिर शकुन्त अपने प्यारे पति और आशीष अपने ग्रेट फादर को गालियां देने लगेंगे···आभा और अंजली शायद चुप रह जाएं···केवल इसलिए कि अभी उनमें गाली देने

की ताकत नहीं है।

तो अलविदा, मेरे दोस्त, जा रहा हूं···'विल' भी देख लो···देख ही लोगे ! अपने सारे बैंक-बैलेन्स का अस्सी प्रतिशत मैं ट्रस्ट बनाकर अस्पतालों को दे रहा हूं— विशेषकर टु द ब्लाइन्ड्स—उन अभागे अंधों को जो जीवन भर रोशनी की तलाश में भटकते हैं, ठोकरें खाते हैं ! वैसे, आंखवाले भी रोशनी को कहां देख पाते हैं ! आंखवाले अंधे—शकुन्त···नीलिमा···आशीष···मेरे पूज्य स्वर्गीय पिता···हा···हा···हा···हा···! नीलिमा और शकुन्त के सुपुत्र आशीष और स्वर्गीय पिता श्री के चेहरे मेरी इन मुंदती आंखों में बिलकुल एक हो उठे हैं···खूबसूरती का मेकअप किए नीलिमा और शकुन्त ! 'सच्चाई' का नकाब ओढ़े मेरे ही खून आशीष और स्वर्गीय पिताजी—! हां, याद आया, हरीराम पिताजी की तुलना में बिलकुल ठीक बैठता था···!

अच्छा तो दोस्त, चलता हूं। बिलकुल होश-हवास में, बिलकुल सधे कदमों से क्षितिज के उस पार जा रहा हूं। देह और दुनिया की सीमाओं के परे वहां, जहां शायद सचमुच धूप की सीढ़ियां हों···जहां रात भी हो तो सितारोंवाली। न ये अंधेरे तहखाने हों, न रात के साथ, स्याह मेघों भरा आकाश !

याद आ रहा है, मैं गाया करता था, तो तुम 'टेप' किया करते थे—'इस पार प्रिये तुम हो, मधु है, उस पार, न जाने क्या होगा !' फिर एक दिन तुमने हंसकर कहा था—'यार उस पार इनकम टैक्सवाला न हो, बस !' हां यार, सिक्के और सिक्कों का टैक्स, जिन्दगी में तो इनसे बचना असंभव ही है···बस, इसीलिए तो जा रहा हूं···! तुम्हें न सही, मुझे विश्वास है कि उस पार न सिक्के होंगे, न इनकम टैक्सवाला ! बस, धूप की सीढ़ियां होंगी···तारों-भरा आकाश होगा···और होगा मेरा अपार्थिव अस्तित्व···उन्मुक्त विहग-सा···क्षितिज का अंतहीन सीमाओं की ओर हलके पंखों से उड़ान भरता···कम से कम वह अपार्थिवता तो सच होगी···बस इसी विश्वास सहित उड़ चला हूं···! तुम्हारा—'जय'